८३	२	प्रवर्पयिष्यत्यन्याशा-,	प्रवर्तयिष्यतीत्याशा-
१०२	५	अर्थकन्जाशानमोर्थः,	अर्थैकपन्थाशात्तमोर्थः
१०३	१०	पूर्णार्थं	पूरणार्थं
१०४	१७	तन्त्रेणेव	तन्त्रेणैव
१०४	१३	दशोत्तरत्रिंशति	दशशतोत्तरत्रिंशति
१०६	४	अनरणनुष्टयन्वम्,	अनरणनुष्टुवम्
१०६	१७	नक्षादि	नक्षत्रादि
१११	८	घटिकास्वति,	घटिकास्विति
११२	१२	नाम्नीन एव,	नाम्नी+इन एव
११२	१२	ज्ञायते	ज्ञायते
११६	१२	चन्द्रिकेऽपीते,	चन्द्रिके अपीते,
१२६	१७	दायादैर्यत,	दायादैर्यत
१२६	४	कर्मकर्तरि	कर्मकर्णि
१३०	११	विद्यानदाना	ध्यानदानदाना,
१३२	१	ध्वनितम्	ध्वनित
१३४	७	वाले जी कामदेव शिवजी महाराज	वाले शिवजी महाराज का शत्रु भी कामदेव ही हुआ
१३४	१	निमकोटयाँ	निमट्कोटयाँ
१३४	१४	मनोऽभिशष्ट	मनोऽभिशिष्ट
१३७	४	मनार्थिनो	मनार्थिनो

पंजाब देशोद्धारक न्यायांभोनिधि जैनाचार्य १००८ श्री मद् विजयानंद सूरीश्वर जी महाराज के परम भक्त स्वर्गीय

बाबू जसवंत राय जी जैनी

जन्मः—
होशियारपुर (पंजाब) वि० सम्वत १९२८ चैत्र सुदी ६ ।



स्वर्गवासः—
देहली वि० सम्वत १९९८ सावन वदी १२ ।

आपने अपनी सारी जिन्दगी में गुरु देव तथा जैन समाज की सेवा में अपनी जिन्दगी का अधिक से अधिक समय देते हुये श्री आत्मानन्द जैन सभा के मंत्री का काम करते हुये श्री आत्मानन्द जैन पत्रिका का संपादन किया कितने ही ग्रन्थ और ट्रैक्ट प्रकाशित किये। श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल तथा हस्तिनापुर तीर्थ के लाईफ तक आडीटर रहे। अंत में इस ग्रन्थ को प्रकट करके और बम्बई में श्री आत्मानन्द जैन सभा स्थापन कराके देहली में अचानक हार्ट फेल होने से परलोक पधार गये।

आपका लघु पुत्र 'धर्म'

प्रस्तावना

जीवों के आवागमन रूप यह जगत्—संसार अनादि अनंत है। अनादि काल से प्रभाह रूप चला आया है और चला जायगा, न आदि है, न अन्त होगा, यह है जैनधर्म का मुख्य सिद्धान्त। परन्तु कई लोगों के मन में जगत् अनादि होने में शंका रहती है। इस शंका को निवारण करने के लिए अनेक युक्ति प्रमाणों की आवश्यकता है। परन्तु स्थान संकुचितता के कारण केवल एक पाश्चात्य विद्वान् की साक्षी ही पर्याप्त होगी, क्योंकि पाश्चात्य व्यक्तियों के कथन पर प्रायः लोगों को शीघ्रतर विश्वास आता है। कहा भी है कि "घर का जोगी जोगड़ा, बाहर का जोगी सिद्ध"। देखिये, डाक्टर वेल साहिब ने दुनिया का इतिहास लिखा है। उसका हिन्दी अनुवाद भी पुस्तकाकार छपा है। उसमें से जगत अनादि होने के सम्बन्ध का लेख यहाँ अक्षरशः उद्धृत किया जाता है:–

"यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि जिस विश्व में हम रहते हैं, वह युग-युगान्तरों से और संभवतः अनादिकाल से ऐसा ही चला आता है, विश्व को छै या सात हजार वर्ष का पुराना मानने का सिद्धान्त अब सर्वथा मिथ्या सिद्ध हो चुका है।"

मित्रो ! यद्यपि यह एक ही प्रमाण जगत् की अनादि सिद्धि में प्रबल प्रमाण है, तथापि और प्रमाण देने का प्रयत्न इसी लेख के अन्तर्गत किया जायेगा। जैन धर्म प्राचीन से प्राचीन स्वतन्त्र आस्तिक धर्म है। तो भी इसे नास्तिक धर्म कहनेवाले अनेक लोग विद्यमान हैं। यह सब उन लोगों की [illegible] अज्ञानता का चिह्न है। वास्तव में वह आस्तिक नास्तिक के भेद को जानते ही नहीं। इस विषय पर बड़ी लम्बी चौड़ी चर्चा है, जो यहाँ नहीं लिखी जा सकती, और न यहाँ उसके लिखे जाने का प्रसंग और आवश्यकता। जो लोग इस विषय की चर्चा सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के अभिलाषी हों, वह विविध प्रकार के निबन्धों में या जैनतत्त्वादर्श, तत्त्वनिर्णयप्रासाद और अज्ञानतिमिरभास्कर आदि हिन्दी पुस्तक श्रद्धापूर्वक निष्पक्ष बुद्धि से अवलोकन करें तो उनको स्वयं मालूम हो जायगा कि नास्तिक वह है, जो ईश्वर को न माने अथवा जो न माने पुण्य पाप जीवन मरण, परलोक, नरक स्वर्ग व बन्ध मुक्ति न माने। जैन धर्म इन सबका [illegible] और [illegible] है अतः जैन धर्म को नास्तिक [illegible] [illegible] जैनधर्म [illegible] [illegible] की [illegible] है। जैन धर्म के सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] मुक्ति [illegible] है अतः जैन धर्म आस्तिक

८, स्वतन्त्र धर्म है, किसी की शाखा नहीं। देखिये, श्री वरदाकांत मुख्योपाध्याय एम० ए० बङ्गाल लिखते हैं कि—"जैनधर्म हिन्दुधर्म से सर्वथा स्वतन्त्र है, उसकी शाखा वा रूपान्तर नहीं है। पार्श्वनाथजी जैनधर्म का आदि प्रचारक नहीं था, परन्तु इसका प्रथम प्रचार ऋषभदेवजी ने किया था" लीजिये एक और प्रबल प्रमाण—श्रीयुत् तुकारामकृष्ण शर्मा भट्ट बी० ए० पी० एच० डी० एम० आर० ए० एस० एम० ए० एस० बी० एम० जी० ओ० एस० प्रोफेसर संस्कृत शिलालेखादिक विषयों के अध्यापक क्वीन्स कालेज बनारस के दृशम वार्षिकोत्सव पर दिये व्याख्यान में कहते हैं कि—"सबसे पहिले इस भारतवर्ष में ऋषभदेव नाम के महर्षि उत्पन्न हुए, वे दयावान, भद्रपरिणामी पहले तीर्थंकर हुए"। इति जैनधर्म की स्वतन्त्र सिद्धि।

इतने प्रबल प्रमाण होने पर भी जो लोग जैनधर्म को बौद्ध धर्म से निकला वा बौद्धधर्म की शाखा मानते हैं, वह सर्वथा अपनी अल्पज्ञता और मूर्खता का परिचय देते हैं। यह विषय भी बड़ा चर्चास्पद है, इस पर केवल कुछ विद्वानों के उद्गार प्रकट करना पर्याप्त होगा। श्रीयुत कन्नूलाल? मजूमदार एम० ए० पी० एच० "जैनदर्शन जैनधर्म" में लिखते हैं कि—"यह अच्छी तरह प्रमाणित हो चुका है कि जैनधर्म

बौद्ध-धर्म की शाखा नहीं है।"

श्रीयुत वासुदेव नरहर उपाध्याय बड़ोदा (Baroda) मराठीशाला नं० १ हेडमास्टर कहते हैं कि "जैनधर्म बौद्धधर्म से निकला हुआ नहीं, उसका उद्भव स्वतंत्र होने से उसने बौद्धधर्म से कुछ लिया भी नहीं॥"

सर्वतंत्रस्वतन्त्र सत्सम्प्रदायाचार्य स्वामी रामभिश्र शास्त्री जी अपने व्याख्यान में कहते हैं कि—"जैनमत सृष्टि की आदि से बराबर अविच्छिन्न चला आया है, जैनमत से बौद्ध सिद्धान्त का जमीन आसमान का अंतर है॥"

इत्यादि अनेक प्रमाणों से जैनधर्म की प्राचीनता, जगत् का अनादि होना और जैनधर्म की स्वतन्त्र अनादि सिद्धि का दिग्दर्शन प्रमाणवश कराकर, अब हम जैन-धर्म के स्वरूपों के सम्बन्ध में कुछ लिखना उचित समझते हैं। जैसे वैदिक धर्म सगुण तथा ईश्वर, सगुण [illegible] मानता है वैसे जैनधर्म भी [illegible] [illegible]

धर्मपत्नी श्रीमती मरुदेवी की कूख से प्रथम तीर्थंकर जन्मे। जिनका नाम श्री ऋषभदेव जी प्रसिद्ध हुआ, और जिनका भारतवर्ष में सबसे प्रथम महर्षि होना श्रीयुत तुकाराम कृष्ण के लेख से ऊपर सिद्ध कर आये हैं।

आज से २५३८ वर्ष पहले २४ वें अंतिम तीर्थंकर श्रीमान् महावीर भगवान् क्षत्रीकुंड नाम नगर में राजा सिद्धार्थ की धर्मपत्नी श्रीमती त्रिशलादेवी की कूख से जन्मे और ३० वर्ष पर्यन्त गृहवास के पीछे मुनिदीक्षा धारणकर, "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतंकर्म शुभाशुभम्" इस नीति के अनुसार घोर तपस्या कर घाती कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान—महाज्ञान को प्राप्त कर और अनेक जीवों के उपकार के लिये मुक्ति के सत्यमार्ग का उपदेश देकर आज से २४६६ वर्ष पहले पावापुरी में जन्म मरणादि दुःखों से रहित हो, सच्चिदानंद अनन्त सुखमय मुक्तावस्था को प्राप्त हुए।

श्री महावीर भगवान् के निर्वाण से २५० वर्ष पहले २३ वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान् १०० वर्ष की आयु पूर्ण कर मोक्ष गये। इनकी जन्म नगरी बनारस, पिता का नाम राजा अश्वसेन, माता का नाम श्रीमती वामादेवी था।

श्री पार्श्वनाथ भगवान् के निर्वाण से ८३७५० वर्ष पहले २२ वें तीर्थंकर श्रीनेमिनाथ भगवान् जो श्रीकृष्ण महाराज के चचेरे भाई थे, एक हजार वर्ष का आयुष्यपूर्ण कर निर्वाणपद (मुक्ति) को प्राप्त हुए। इनका जन्म नगर सौरीपुर, पिता राजा

समुद्रविजय, माता श्रीमती शिवादेवी थी।

इसी प्रकार पूर्वभूत २१ तीर्थंकरों का अंतरमान आदि का संपूर्ण वर्णन श्रीकल्पसूत्रादि ग्रंथों में लिखा है, वा जैन तत्त्वादर्श में देख लेवें। यहाँ हम केवल उनका संयुक्त काल प्रमाण ही लिख देते हैं, जो एक कोटा कोटी सागरोपम से १०६००३ वर्ष साढ़े आठ महीने कम है। जैन धर्म का स्वरूप बड़ा गहरा समुद्र है, कौन पार पा सकता है, मैं तो केवल जैनधर्म के स्वरूप का दिग्दर्शन ही कराने की चेष्टा कर रहा हूँ।

अब मैं यह प्रकट करना चाहता हूं कि श्रीमन्महावीर भगवान के पीछे आज तक अर्थात् लगभग ढाई हजार वर्ष के भीतर कौन २ प्रभावक, प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित परमपूज्य, जैन धर्म-रक्षक और जैनशासनप्रवर्द्धक आचार्य, मुनि आदि महात्मा हो गये हैं और हमारी आंखों के सामने थोड़ा साही के एक देदीप्य-मान सूर्य समान महान् आचार्य मुनिराज हो चुके हैं। जिनका श्रीमद्विजयानन्द सूरीश्वर प्रसिद्ध नाम श्री आत्मारामजी महाराज हैं [illegible]

[illegible]

अग्निभूति, सुधर्मा स्वामी प्रमुख ११ गणधर विद्वत्‌शिरोमणि जैनशासन के महारथी हुए। इनके पीछे दशवैकालिक सूत्र के कर्त्ता आर्य श्रीशय्यंभव और निर्युक्तिकारक श्रीभद्रबाहुस्वामी पंचम श्रुतकेवली परम विख्यात हुए हैं।

श्रीसिद्धसेनदिवाकर—परमकाव्य कुशल और शक्तिशाली, 'कल्याण मन्दिर' स्तोत्र महाकाव्य के पाठ से श्री पार्श्वनाथ भगवान की मूर्ति पृथ्वीतल से प्रकट करनेवाले महाराजाधिराज विक्रम के समय में हुए। सर्वोच्चकोटि का 'सम्मति तर्क' नाम शास्त्र रचकर जैनन्यायशास्त्र की प्रगति की है।

श्रीमल्लवादी—राजा शिलादित्य के राज्य में बौद्धों को पराजय कर जयपताका प्राप्त करनेवाले।

श्रीमानतुंगाचार्य—श्री आदीश्वर भगवान की 'भक्तामर' काव्यों द्वारा स्तुति कर निगड़ बन्धनों से निर्मुक्त हो जैनशासन की महिमा करनेवाले, भयहर स्तोत्रकर्त्ता।

श्रीअभयदेवसूरि—नवांगटीकाकार और जयतिहुयण स्तोत्रकर्त्ता।

श्रीवादिदेवसूरि—श्रीसिद्धराजसिंह [illegible] दिगंबराचार्य श्री कुमुदचन्द्र पर विजय पानेवाले।

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य—गुर्जर नरेश श्री कुमारपाल प्रबोधक, योगशास्त्र, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, व्याकरण, न्याय, काव्य, अलंकार, छंद, ज्योतिष, कोश आदि प्रायः सब विषयों के अनेक माननीय ग्रन्थ साढ़े तीन करोड़

अनेक प्रमाण साहित्य के रचनेवाले।

श्रीहरिभद्रसूरि—महाप्रभावक आचार्य, १४४४ ग्रंथों के रचने वाले, आवश्यकसूत्र दशवैकालिकसूत्रादि की टीका और शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि के कर्ता।

श्रीविजयहीरसूरि—मुगल सम्राट् अकबर को प्रतिबोध दे कर दिया छुड़ाने वाले जैनतीर्थों की रक्षा और यात्रियों से कर (TAX) न लेने के फरमान प्राप्त करने वाले महान प्रतापी।

शास्त्रविशारद श्रीयशोविजयजी उपाध्याय-काशी में विद्वच्छिरोमणि ब्राह्मणों से सत्कार प्राप्त करनेवाले, अद्भुत न्यायशास्त्रविशारदी, अनेक न्यायग्रन्थों के रचनेवाले।

न्यायाम्भोनिधि श्रीविजयानन्दसूरि—यह महात्मा बीसवीं सदी के सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हुए। यहाँ इनके चरित्र के सम्बन्ध में कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता है जो इस प्रकार है—

श्रीमद्विजयानन्दसूरि (श्री आत्मारामजी महाराज)

[illegible]

श्री आत्मारामजी महाराज का शुभजन्म विक्रमसम्वत् १८६४ (गुजराती १८६३) महा मंगलकारी चैत्र सुदी १ के दिन श्रीमान् गणेशचन्द्र कपूर क्षत्रिय कुल में श्रीमती रूपादेवी माता की कूख से जीरा (जिला फीरोजपुर, पंजाब) के पास लहरा गांव में हुआ। इनके पिता के परम मित्र लाला जोधामल ओसवाल जीरा में एक प्रतिष्ठित और ऋद्धिवृद्धिसम्पन्न श्रावक रहते थे। व्यावहारिक शिक्षण के लिये इनके पिता ने इस बालक को छोटी ही अवस्था में लाला जोधामल के पास छोड़ दिया। जिन्होंने अपने पुत्रों के समान इनका पालन पोषण किया। समय समय पर ढूंढिये साधुओं का जीरा में आगमन हुआ करता था। लाला जोधामल आदि की संगति से यह भी उन साधुओं के पास जाने लगे, पढ़ने लगे, समयान्तर में इन्हीं ढूंढियें साधुओं का चेला बनने की प्रबल इच्छा प्रकट की, माता का विरोध होने पर उसे समझा बुझाकर सम्वत १९१० (अनुमान १६ वर्ष की चढ़ती युवावस्था) में श्री जीवनमलजी ढूंढिये साधु के चेले बने।

ढूंढियों की सम्प्रदाय के माने ३२ शास्त्रों का पूर्ण अध्ययन करने के पीछे सूत्रों के अर्थों की तुलना करने पर इन्हें ढूंढियों के बताये और व्याकरण द्वारा किये अर्थों में बड़ा अन्तर मालूम होने लगा क्योंकि व्याकरण ही शास्त्रों के भण्डार की तालिका है। उक्तं च—

यद्यपि बहु नाधीषे तदपि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो माभूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत्॥

अपने गुरु तथा उस समय के मुख्य २ ढूंढिये साधुओं को कहा कि जैनशास्त्रों में मन्दिर, प्रतिमा पूजादि सिद्ध होते हैं। मुँहपत्ति में डोरा डालकर दिन रात मुँह बाँधे रखना कहीं नहीं लिखा, सूर्यनिमित्त रात्रि को तुम पानी क्यों नहीं रखते, इत्यादि अनेक शंकाओं का समाधान तो किसी ने क्या करना था, प्रत्युत आपने टोले में बाहर निकाल देने और आहार पानी न देने की धमकियाँ देनी शुरू कर दीं। इनकी तो नस नस में सत्य धर्म का रङ्ग और सत्य की परीक्षा करने का जोश भरा था। किसी की परवाह न करके अपने संकल्प में दृढ़ रहे —

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्यमुत्तमजना न परित्यजन्ति।

इस न्याय के अनुसार ढूंढियों के वेष में ही रहकर आपने धर्मात्मा के साधु और गृहस्थी श्रावक बनाने शुरू कर दिये। कई वर्ष अपने मन्तव्य की सिद्धि में लगा कर पीछे ढूंढियों के साधु विश्नचंद, चम्पालाल, सलामतराय, निहालचंद आदि कई साधु और पंजाब के अनेक शहरों के मुख्य मुख्य प्रतिष्ठित और [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

विरोधियों के उपद्रव सहन करते करते मारवाड़ आदि देशों में सत्य जैनधर्म का प्रचार करते हुए आप अहमदाबाद (गुजरात) में पहुँचे। यहाँ सब सम्प्रदायों के साधुओं से सत्य की तलाश में मिलते रहे, अविछिन्न परंपरागत श्रीमद् बुद्धिविजय जी गणी के दर्शन कर जो बड़े वैरागी और साधुगुणसम्पन्न थे, बहुत प्रसन्न हुए और इनके ही पास मूर्तिपूजक संवेगमत की दीक्षा अपने सहचारी ढूंढिये साधुओं के साथ अंगीकार की । गुरू बुद्धिविजयजी ने आपका नाम **आनन्दविजय** रक्खा और बिशनचंद आदि के नाम श्रीलक्ष्मीविजय जी आदि रक्खे। कालान्तर में देशदेशान्तर में परिभ्रमण कर श्रीसिद्धाचल आदि अनेक तीर्थों की यात्रा की। स्वमत-परमत शास्त्रों के पारंगत बड़े भारी विद्वान प्रसिद्ध हुए। अपनी मनोहरवाणी द्वारा पीयूषधारा—व्याख्यान से जनसमूह को तृप्त करते रहे।

आपके बुद्धिवैभव और मनोयोग की तुलना करनेवाला अन्य कोई समाज में न देखकर भारत के समस्त जैनसंघने एक विचार होकर हजारों जैनों के समक्ष श्रीसिद्धाचल तीर्थ की छाया में पालीताना नगर में आपको संवत् १९४३ मंगसिर वदि पंचमी को **न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरि** नाम से उद्घोषित किया। आपकी व्याख्यान शैली अद्भुत थी, सुनने वाले ही जानते हैं। आपके दर्शन करनेवाले, आपकी वचनामृतवाणी पान करके और प्रश्नोत्तरों का स्वरूप समझ करके स्वयं ही आनंद-मग्न हो जाते थे। सर्वगुणसम्पन्न इन महात्माने जैनसमाज की

अज्ञानतिमिरभास्कर, तत्त्वनिर्णयप्रासाद आदि कई ग्रन्थ हिन्दी भाषा में रचकर हिन्दी जाननेवालों पर असीम उपकार किया है। जिन्हें मारवाड़ी, गुजराती, पंजाबी, पूर्वी आदि अनेक लोग पढ़कर बहुत लाभ प्राप्त कर रहे हैं। एक पाश्चात्य विद्वान डाक्टर रुडल्फहार्नेल ने इनके रचे ग्रन्थों की और इनकी प्रशंसा में जो उद्गार प्रकट किये हैं, वह इसी पुस्तक 'श्री आत्मानंद [illegible]' के फुटनोट में छपे हैं, देखो पृष्ठ १२६ से १२८ ॥

इतना ही नहीं, अन्य अनेक विद्वानों ने भूरि भूरि प्रशंसा की है, यहाँ केवल एक सन्यासी महात्मा का अभिप्राय लिख करके यह विषय यहीं ही समाप्त करते हैं, वह है— वेदमतानुयायी, पंडितराज, राजामहाराजाओं की सभाओं में जयपत्रधारी, योगजीवानंद स्वामी परमहंस सन्यासी थे, इन्होंने इन महात्मा के रचे जैनतत्त्वादर्श और अज्ञानतिमिरभास्कर ग्रन्थ को पढ़कर श्री आत्मारामजी महाराज के नाम एक पत्र लिखा था, जो हम यहाँ सम्पूर्ण उद्धृत करते हैं—

[illegible]

साधनांश होता है कि राजे लोग जानते समझते हैं फलाना पुरुष बड़ा भारी विद्वान है परन्तु आत्मा को क्या लाभ हो सकता देखा तो कुछ भी नहीं। आज प्रसंगवस रेलगाड़ी से उतर के बठिंडा राधाकृष्णमंदिर में बहुत दूर से आन के डेरा किया था सो एक जैनशिष्य के हाथ दो पुस्तक देखे तो जो लोग (दो चार अच्छे विद्वान जो मुझसे मिलने आये) कहने लगे कि यह नास्तिक (जैन) ग्रंथ है इसे नहीं देखना चाहिए अंत उनका मूर्खपणा उनके गले उतार के निरपेक्ष बुद्धि के द्वारा विचारपूर्वक जो देखा तो वो लेख इतना सत्य वो निष्पक्षपाती लेख मुझे देख पड़ा कि मानो एक जगत् छोड़ के दूसरे जगत् में आन खड़े हो गये औ आबाल्यकाल आज ७० वर्ष से जो कुछ अध्ययन करा वो वैदिक धर्म बांध फिरा सो व्यर्थसा मालूम होने लगा जैनतत्वादर्श वो अज्ञानतिमिरभास्कर इन दोनों ग्रंथों को मनन करि दिव मनन करता बैठा. वो ग्रंथकार की प्रशंसा करता बठिंडे में बैठा हूँ। सेतुबन्ध रामेश्वर यात्राके अर्थ मैं मैसूर देश चला हूं परन्तु अब मेरी ऐसी असामान्य महती इच्छा मुझे सता रही है कि किसी प्रकार से भी एक बार आपका मेरा समागम वो परस्पर संदर्शन हो जावे तो मैं कृतकृत्य हो जाऊं॥ महात्मन् हम सन्यासी हैं। आज तक जो पंडित ऐसे समझता जो सभाविजयी हो के राजा महाराजाओं से मनोवांछित इनाम ले एक नाम पंडिताई का हासिल करा है। अब मैं नहीं समझूं आप से मिले तो मैं समझूं पंडित ऐसे होते हैं यह हम

समझते भी जानते हैं परन्तु इतना भी शुभ परिणाम शुभ कामना का धर्म नहीं। आज मैं आपको मात्र इतना मात्र स्वीकार कर सकता हूँ कि प्राचीन धर्म परम धर्म अगर कोई सत्य धर्म रहा हो तो जैनधर्म था जिसकी प्रथा नाश करने को वैदिक धर्म की परम्परा को प्रचार करते गये थे परन्तु वर्तमान दृश्य हो के कोई यदि वैदिक ग्रन्थों पर दृष्टि देवे तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि वैदिक धर्म कहीं भी नहीं सब जैनशास्त्रों से नमूना इकट्ठी करी है। इसमें संदेह नहीं कि जैनधर्म ऐसा है कि जो प्रत्यक्ष विषय को बिना सिद्ध नहीं होता है संवत् १९०८ तिथि आषाढ सुदि १० पुनर्निवेदन यह है कि यदि आपकी कृपा रही पर्व को यह हमारा निश्चय का उत्तम कहना। इति योगानन्द स्वामी। [illegible]—

पापानां गतनुगामी ह्रि[illegible]नः [illegible]।
[illegible]नि[illegible]नः पू[illegible]:
[illegible]।
[illegible] ॥१॥

[illegible]

आशातीत इस काव्य के ७२ अर्थ करके काव्यकर्त्ता की विद्वत्ता और काव्यकुशलता को प्रकट करने के अतिरिक्त अपने बुद्धि-वैभव का परिचय देते हुए साहित्यसेवा और स्व-पर परिश्रम को सफल किया। परन्तु यह भी अप्रकाशित दशा में पड़ा रहने से किया परिश्रम भी तत्काल सफल न हो सका।

काव्यकर्त्ता और अर्थकर्त्ता दोनों विद्वानों के परिश्रम को सफल करने के लिए इनकी समग्र कृति को "श्री आत्मानंदद्वासप्तति" नाम पुस्तक के रूप में छपवाकर प्रकट किया जाता है, इसके छपवाने का सारा श्रेय जैनधर्मप्रभावक स्व-परमतनिष्णात जैनाचार्य श्रीमद्विजयानंद सूरीश्वरजी के पट्टधर वर्त्तमान जैनाचार्य श्रीमद्विजयवल्लभसूरिजी को है, जिन्होंने शहर अम्बाला निवासी सद्गत लाला लालचन्द जैन सराफ की धर्मपत्नी सुश्राविका सद्गत श्रीमती द्रौपदी प्रसिद्ध नाम नहीरो बाई के फंड के ट्रस्टियों से उपदेश द्वारा आर्थिक सहायता दिलाने में सुप्रयत्न किया है, एतदर्थ आपको और ट्रस्टियों को धन्यवाद दिया जाता है। नम्र निवेदन है कि इस पुस्तक के छपवाने का शुभकार्य मुझे सौंपा गया था। कुछ भाग मेरी अनुपस्थिति में छपा है। तथा यथाशक्य शुद्धि का ध्यान रखा गया है, तो भी दृष्टिदोष या मुद्रणालय की भूल से यदि कहीं अशुद्धि रह गई हो तो पाठक महोदय सुधारने की कृपा करें। किंबहुना सुज्ञेषु—

आत्मानंदोपासक—

देहली—३-१-४८ जगचन्नलाल जैन।

प्राथमिक नम्र निवेदन

सेवा में निवेदन है कि शहर अम्बाला की जैनसभा की तरफ से शताब्दी सूचनापत्र योगाभ्यासानुगामी काव्य के साथ इस अभिप्राय का मिला कि इस काव्य के अधिक से अधिक जितने भी अर्थ हो सकें, उनके लिये मैं प्रयत्न करूं, और पं० भागमल्ल आदि कतिपय प्रेमी मित्रों के प्रोत्साहन से कुछ समय पीछे मैं इस कार्य में प्रवृत्त हुआ, गुरु जनों की कृपा और इष्ट मित्रों की सद्भावनाओं से "जैन धर्म में तथा महात्मा श्री आत्माराम जी म० साहब का स्थान बताने वाले" ५२ अर्थ संपादन करने में मैं सफल हुआ हूं। जहाँ कहीं व्याकरणादि की अशुद्धियाँ रही हों, सज्जन जन इसके भावार्थ मात्र पर ही ध्यान देकर अपनाने की कृपा करें।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

४[illegible] वें अर्थ से लेकर ५२ वें अर्थ तक महाराज श्री आत्मारामजी की संक्षिप्त जीवनी इसी क्रम से लिखी है

मैं सभा से यह भी निवेदन करना चाहता हूं कि [illegible] मुनिराज श्री आत्माराम जी के [illegible] विजयानन्द सूरि जी की तथा जैनधर्म की प्रशंसा [illegible]

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] :
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible]
[illegible]

नमः श्री परमात्मने

जैनं जयति शासनम् ॥

श्री आत्मानन्दद्वासप्ततिः ॥

तत्रादौ मंगलाचरणम् ॥

राधेशो राधिकाधीशं वैजनाथो मुदा स्मरन् ।
योगाभोगेति काव्यस्य, व्याख्यां वितनुतेऽमलाम् ॥

अथेदानीमारभ्यते "योगाभोग" इत्यादिमालाबन्ध-काव्यस्य व्याख्यानसन्दर्भेऽलङ्कारयोगप्रयोगः ।

काव्यस्वरूपम्—यथा

योगाभोगानुगामी द्विजभजनजनिः शारदारक्तिरक्तो।
दिग्जैत्राजैत्रजैत्रामतिनुतिगतिभिः पूजितो जिष्णुजिह्वैः
जीयाद्ायाद्यगामी खलबलदलनो लोललीलस्वलज्जः ।
केदारौदास्यदारी विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्तः ॥१॥

अस्यायं साधारणोऽर्थः

"योगायोगानुगामी" इत्यादिविभिन्नविशेषणात्मकानि प्रथमान्तपदानि कर्तृविशेषणत्वेन कर्तृत्वेन वा "जीयात्" इति क्रियापदेन सम्बन्धान्वयो विधेयः ॥

तथाहि—"योगायोगानुगामी जीयात्" योगो ध्यानात्मकः प्रधानो धर्मः स चात्मनो मोक्षेण सह संयोजनात् "योगः" इत्युच्यते प्राधान्यत्वाच्च तत्त्वदर्शिभिर्महात्मभिः भरतादिभिरपि । तद्यथा—

"योगः कल्पतरुश्रेष्ठो योगश्चिन्तामणिः परः ।
योगः प्रधानं धर्माणां योगः सिद्धेः स्वयंग्रहः ॥" इति

तस्यापि योगशब्दस्य निरुक्तिरियं विहिता योगशास्त्रविशारदैः सुमतिभिः—

"योजनाद्योग इत्युक्तो मोक्षेण मुनिसत्तमैः ।
स निवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ लेशतो ध्रुवः ॥" इति

स चापि योगः पञ्चाङ्गत्वेन निरूपितो दृश्यते तद्यथा -

"अध्यात्मभावना ध्यानं समतावृत्तिसंक्षयः
योगः पञ्चविधः प्रोक्तो योगमार्गविशारदैः॥" इति

तस्य योगस्य—आभोगः परिपूर्णत्वं त्रुटिराहित्यमितियावत् "आभोगःपरिपूर्णता" इत्यमरः इतियोगाभोगस्तस्मै—योगाभोगाय अनुक्रमेण गच्छति-उत्तरोत्तरं याति इत्येवं शीलं यस्याऽसौ योगाभोगानुगामी गुरूपदिष्टमार्गेण क्रमाद्योगपूर्त्यै-उद्युञ्जान इति भावः। क्रमश्चापि तत्रैवं दर्शितो योगविद्भिर्महर्षिभिः—

"पूर्वसेवा तु योगस्य गुरुदेवादिपूजनम् ॥
सदाचारस्तपोमुक्त्यद्वेषश्चेति प्रकीर्तिताः ॥१॥
आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ॥
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥२॥" इत्यादि

ननु किमर्थोऽयमुद्योगोऽस्य महात्मनो योगम्प्रति यतः "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते" इत्याशङ्क्य प्रवृत्तेः फलमपीह प्रदर्श्यते यथाशास्त्रं। तद्यथा—

"इहापि लब्धयश्चित्राः परत्र च महोदयः ॥
परात्मायत्तता चैव योगकल्पतरोःफलम् ॥ ३ ॥
अपि क्रूराणि कर्माणि नाशायोगः क्षिणोति हि ॥
ज्वलनोज्वालयत्येव कुटिलानपि पादपान् ॥४॥
तथा च जन्मबीजाग्निर्जरसोऽपि जरापरः ॥
दुःखानां राजयक्ष्मायं मृत्योर्मृत्युरुदाहृतः ॥५॥

कुर्वन्तीमवन्ति तीव्रगानि मन्मथास्त्राणि सर्वथा ॥
योगवर्मावृतं चित्तं तपश्छिद्रकराण्यपि ॥ ६ ॥
अहर्निशमपि ध्यानं योग इत्यवगच्छथ ॥
अघसंघाय पापानां ध्रुवं वज्रार्गलायते ॥७॥"

इत्यादि—अलमतिविस्तरेण ।

जीयात्-सर्वोत्कर्षेण वर्तताम्-योगमार्गोल्लङ्घनभूतानि त-
पोविघातकराणि मन्मथास्त्रादीनि आकलितजन्मकृतपातक-
फलभोग्यानि च यस्मादभ्यासमभ्यास्यद्यपि पराभूय तिष्ठति
सर्वकर्मा। आत्मकृत्कृत्स्नमं ध्यानं नवनैत्यभिमर्शिभिः कर्म-
भूतोऽसौ-द्विजपतिजनिः—द्वाभ्यां जन्मसंस्काराभ्यां जायन्ते
ते द्विजाः—ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या इत्यर्थः, "द्विवर्णराजन्यौ
शूद्रमौर" इत्यतः "वर्णत्रयमजातौ" इति ह: अन्यतः
स्वाङ्कुलांश: "द्विज स्यादुभयाकलमसर्वस्यदन्तोपदंश नौ"
इति संहिता। तेषां द्विजाना पतिनं भागः 'महत्परायण'
इत्यस्माद्वानाभाव स्पृष्ट, शूद्रादिनिर्मिता भाग इति भावः,
तत्र द्विजपतत्र अनिर्जित्य यस्य स द्विजपतनजनिः,
"अनिष्कर्षोनष्टेत:" इत्यत:, द्विजन्मनाम्न शान्त्य
तनम् द्वय: सम्भवात्। यागायागानुगामिना ...
मिद्रा ... ... कृतिजात्य

पुन ... :—... इत्यद'

सरस्वती वागधिष्ठात्रीदेवी—शरदतौपूज्यत्वाच्छारदा आश्विनो मासः शरदृतावेव गण्यते तत्पूर्णिमाया एव शरत्पूर्णिमाऽभिधानात्-तस्मिन्नेव मासि नवरात्राऽवसरे दुर्गापूजा तन्त्रशास्त्रैः सुविशेषतया अत्यपादि दुर्गानाम भगवती, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती-इति त्रिनाम-रूपात्मिका त्रिगुणात्मिका शक्तिस्तेषु दिनेषु महारात्र्यादौ विभिन्नैरुपकरणैर्विभिन्नेन च विधानेन विभिन्नास्वेव तिथिषु पूज्यते । तत्पूजनाख्यानपरं वचनन्तु—

"मूलेनावाहयेद्देवीं श्रवणेन विसर्जयेत्" इति,

तथा च शब्दकल्पद्रुमे शारदाशब्दनिरुक्तिः—

"शरत्काले पुरा यस्मान्नवम्यां बोधिता सुरैः ।
शारदेति समाख्याता पीठे लोके च नामतः" ॥१॥

तस्यां रक्तिरनुरागः-प्रेम इतियावत्, 'रञ्ज रागे' इत्यस्माद् भावे क्तिन्, तया रक्तः परिप्लुतो भावित इति भावः । 'रञ्ज रागे' इत्यत एव कर्मणि क्तः एतदेव बीजं पूर्वोक्तो-पपत्तौ ।

पुनः कथंभूतो दिग्जेता...दिशां जयस्य कर्ता-तत्-तद्दिशानुस्थिता ये विद्वांसस्तेषामुपरि [illegible] नैया-[illegible] प्रमाणप्रमेयादि[illegible] [illegible]-[illegible] [illegible], न तु [illegible]-[illegible] [illegible] [illegible]

विग्रहाभावन्यायादिति नावगिकोऽप्यत्रार्थो बोध्यः "अन्त्यः लोऽग्नि" इतिवत् ।

सम्यक्त्वाः श्रेणिन्वाद्विद्याम्यामब्यवनिन्वनम्भिर्विर्ति-वार्तापिद्धंस गद्भृयम्वादिर्विक्तृन्वनमस्य परमगर्ति-प्राप्तमेवेति न कस्यापि गद्धातङ्कलेशावकाशः ॥

पुनः कथंभूतः-जेतृजेता, जयन्तीति जेतारः-जयति सर्व परमवति असौ जेता, कर्मारिसमूहजयित्व एव-'जि जये' धातुःउभयत्रापि 'तृन्तृचौ'इत्यनेन तृच् । तेषां जेतॄणां मधुरागजयकर्तृ गामपि जेता परमाराधिता ।

पुनः कथंभूतः-मत्यादिसंज्ञिज्ञानविज्ञानिना सम्मानं मतिः-कानिः-मतिस्मृतिगतिभिः-मननं मतिः बुद्धिः "बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीःप्रज्ञा शेमुषी मतिः" इत्यमरः-स्मरणं स्मृतिः "स्मर स्मार्य स्मृतिः स्मृतिः" इत्यमरः,गमनं गति-स्मृताय मतिज्ञान पापापहमृताय इति तत्त्वार्थ-विचारणेन ।

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

इति यावत् (पहुँच इति भाषा) "गुजर "इत्यदूभाषा ।
यथा च महाकाव्ये रघुवंशे कालिदासः—

> "अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः ।
> मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः" ॥

ताभिःपूजितः । कैः (पूजितः) जिष्णुजिह्वैः जयन्ति इत्येवं शीलं यासां ता जिष्णवः "जि जय" इत्यस्माद्धातोः "ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः" इत्यनेन ग्स्नुः "लशक्वतद्धिते:" इति गकारस्येत्वम् गित्वाद्गुणाभावः "आदेशप्रत्यययोः" इति सस्य षत्वम् "ष्टुना ष्टुः" इति नस्य णः-जिष्णवो जिह्वा येषां तैर्जिष्णुजिह्वैः पूर्वस्मिन् विशेषणे ये जेतृत्वेनाभिहिताः त एव जिष्णुजिह्वास्तद्-व्यापारेणैव तेषां जेतृत्वसिद्धेः सद्भावात् तावत्कालपर्यन्तन्तु तेषामेव जेतृत्वप्रसिद्धित्वाच्च साम्प्रतञ्च नेऽविरुद्धशुद्धव्यवहारप्रचारसन्तुष्टाःतद्गुणगण-परिगुप्तास्तत्स्नेहगेहाभिरमणाचरणाः सन्तोऽस्य महात्मनः स्वाभाविकगुणैरेवावजितमात्मानं मन्यमानास्ताभिरेव जिष्णुजिताभिः स्तोतुमारब्धवन्तो । यतः—

> "गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ॥

अन्यच्च—

> "किं कौलीन्येन कार्पण्ये किं कलाढ्येन ऽनुत्पन्नः ।
> परस्य हृदये लग्नं न पूरयति यन्निक्षुः

न च शंक्यं यदनेन न विभाजिता सर्वेष्वपि, तथाकर्तुं अहिंमात्रमभक्ष्यमक्षात्, यतःधर्मतोऽप्यधनमात्रमपि हिंसनमेव स्वीकुर्वन्ति जैनाचार्याः ।

पुनः कथंभूतो—दायादयार्थी, दायं विभजनीयं धनं—अन्तनिमित्तमाददति स्वत्वेनाङ्गीकुर्वन्ति ते दायादाः—बान्धवाः—पुत्रादयोऽपि, "दायादौ सुतबान्धवौ" इत्यमरः, "दायादस्तु मतः पुंसि सपिण्डे तनयेऽपि च" इति मेदिनी । दायपूर्वकात् "डुदाञ् दाने" इत्यत आङ्पूर्वकात् 'आतश्चोपसर्गे' इत्यनेन कः, "आतो लोप इटि च" इत्यालोपः । तेषां दायादानां गाथा—सपिण्डिर्वाणां—यदन्यथा दायादयार्थी "अत इनिठनौ" इत्यनेन इनिः पूर्वजाना-न्यर्थं महात्मनः [illegible] सर्वोऽपि [illegible] गाथा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

पितुः सम्पत्तौ पुत्राधिकारदर्शनात्, पुत्राद्यर्जितद्रव्यनिचयेऽपि पित्राद्यधिकारसम्भवाच्च । तथा श्रुतिः—'पुत्रेण लोकं तरति' इति भाष्यकारःपतञ्जलिरपि व्याकरणाऽऽध्ययनफलोपदेशे— 'यश्चैनमधीते यश्चैनमध्यापयति, मातापितरौ चास्य स्वर्गेलोके महीयेते' इति। महाकविःकालीदासोऽपि—'सन्ततिः शुद्धवंश्या हि, परत्रेह च शर्म्मणे' इति ।

पुनरपि यथा—

"पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः—तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा" किम्पुनर्वक्तव्यं यदीदृशः सुतपाः सर्वतोगीतकीर्तिः सुपुत्रः स्यात् । अत ऊर्ध्वमपि महासत्त्वस्यास्य सुतरामूर्ध्वरेतस्त्वात् सन्ततेरनुत्पादनात् सदायादयात्रा (वंशपरम्परा) एतदवधिकैवेति न दुर्विभाव्योऽयं विषयः कस्यापि चेतनावतः । अतः सुतरां घटते दायादत्राणीतिविशेषणमस्मिन्महाभागे ।

पुनः कथंभूतः—खलबलदलनः, खलाः—दुर्जनाः, "पिशुने दुर्जनःखलः" इत्यमरः, तेषां खलानां बलम्—सामर्थ्यं सैन्यं वा—"स्थौल्यसामर्थ्यसैन्येषु बलं नाकाकसीरिणोः" इत्यमरः । तत् खलबलं दलति—विदारयति—इति खलबलदलनः, "दल विशरणे"—इत्यतो भौवादिकात्

"नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" इत्यनेन ल्युः प्रत्ययः, "युवोरनाकौ" इत्यनेन युस्थानेऽनादेशः, विघ्नगणसंज्ञानां विभागः। एषां दर्शनप्रभावेण प्रभाविता एव दुर्जना दौर्जन्य-सामर्थ्यहीना विभागशो वा खलत्वं हित्वा सौजन्यभागिनः, इति भावः। तथाचोक्तं—

"क्षमाखड्गः करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति।
निस्तृणे पतितो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति"॥ इति

इहापि शान्त्यगनिर्देशेनैव निर्वाहः।

पुनः कथंभूतो—लोलल्लीलस्खलज्जः, लोलाः—चञ्च-लास्त्र—या लीलाः प्रमदाक्रियाः—इति लोलल्लीलाः "लीलां विदुः केलिविलासशृङ्गारभावजप्रमदाक्रियाम्" इति विश्वः, ताभिर्लोलल्लीलाभिः स्वस्मिन्नेव लज्जत इति लोलल्लीलस्खलज्जः, लज्ज व्रीड इत्यस्य [illegible] आत्मनि-आत्मना आत्मानमनुचिन्त्य लज्जमानः [illegible] पात्रचयना—अभ्यासवशात् [illegible] स्वस्मिन्नात्मनि एव लज्जत [illegible] [illegible] विभागात्मन एव [illegible] [illegible] पुनः [illegible]

[illegible]

[illegible]

केदारः इदं शरीरमेव,'इदं शरीरं कौन्तेयक्षेत्रमित्यभिधीयते इति श्रीमद्भागवद्गीतायाम् श्रीमुखत एवाभिधानात्, तस्मिन्केदारे यदौदास्यम् उदासीनता-वैराग्यम्मनोयोगाभाव इति यावत्, केदारौदास्यं सांसारिकभोगहेतुत्वादस्मिञ्छरीरे एव बन्धनकारणत्वप्यात्रानवधानम्-तस्य केदारौदास्यस्य दारो(आदरो) यस्यास्तीति असौ-केदारौदास्यदारी, दरणं-दारः-भावे घञ्,"दृङ् आदरे"इत्यस्य घञि रूपम्, "अत इनि" इत्यनेनेनिः, स्वशरीरसद्भाव एव पूर्वजन्मनि मोक्षस्यासाधकत्वाल्लज्जावहोऽतोऽस्मिन् जन्मनि तत्पालनपोषणयोरनवहितत्वमेवाद्रियत इति भावः ॥

पुनःकथंभूतो—विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्तः—विमलम्—निर्मलं-मलरहितम्, शरीरमलेन यद्वा स्वाभाविकसौम्यतया क्रोधादिजन्यैः पित्तादिविकारैश्चापि रहितं यन्मधु-मातुः क्षीरम् "मधु क्षौद्रे जले क्षीरे मद्ये पुष्परसे मधु, दैत्ये चैत्रे वसन्ते च" इति विश्वमेदिन्यौ । तद्विमलमधु तस्मिन्-विमलमधुनि यो मदः-वीर्यम्, "मदो रेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षे भदानयोः" इति मेदिनी ॥ असौ विमलमधुमदः, यथा मातुःक्षीरेऽपि वीर्यं निगूढमेव तिष्ठति तथाऽनेनाऽपि सर्वथा निगूढमेव रक्षितं यावानस्ये-नातस्तस्य विमलमधुमदस्य यदुद्दाम—उत्कटं—महत् धाम—तेजस्तद्विमलमधुमदोद्दामधाम "धाम गृहे

च तेजोमन्दिरजन्मसु" इति विश्वः। तेन विमलमधुमदोद्दा-
मधाम्ना प्रमत्तः–प्रमुदितो, "मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्ति-
गतिषु"-इत्यस्मात्कर्त्तरि क्तः प्रहृष्टः मत्त-शौण्डादिष्वनेनान्व-
यः। इह खलु काव्यकृता कीदृक् सुशोभना सर्गसगाधिना,
गोणानुगामित्वे द्विजोद्भवत्वं बीजम्, तत एव विद्यानुराग-
स्ततश्च विजेतृत्वं क्रमागतमेव तत्राऽपि जेतृजयोऽर्थादेवाग-
तस्ततश्च जिष्णुजिद्धः कृतं पूजनं स्वभावसिद्धमेव लोके
सन्तोषसंमाधानमादायादानां निवृत्तिः सततसदलनस्य
पुरस्सरं समदादिनाम्, एतावत्पर्यन्तन्तु सिद्धमेव
धर्मः अतः पश्चात्स्मरणमात्रेणैव गाढोत्कलिका
उद्वेगः-ततश्च तयोः विगमस्याऽपि पर्यालोचनं तत्र न
विविरधामप्राप्तिः, इत्युत्तरोत्तरप्रबद्धः सुहृत्सम्प्रतिरेति-
व पदार्थस्थितयापि माला–इत हि व्यक्तीति नान्तरितं
किमपि गेमतानुरागम्, अथ च सामान्यार्थेनैव न किमपि परि-
गलितं तेन विदुषा तथापि बुधजनबुद्धिवैदग्ध्यप्रदर्शनेन
स्वेन तेन प्रतिपादितम् (अस्य पद्यस्य सरस्वतीकृपया:
प्रकाशितम् इति) तद्वचनं सार्थयितुं यथाशक्ति यथा
मति च प्रयतिष्ये। तदर्थं विद्वज्जनानां कृपाकटाक्षरूपं
[illegible] इति सार्वभौमत्वालयस्थां सुराङ्गनां [illegible]
[illegible]। अथ तत् सत्पथ दृष्टं, तद्यथा यथा—

"प्रलम्बता येन विमुनिपरीस्तृता मसरा [illegible]

ओजो गुणः, "ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते, वीरवीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु" इति तल्लक्षणात् अत्रापि वीरादयः शब्दा उपलक्षणानि तेन वीराभासादावप्य-स्यावस्थितिरिति दर्पणकृत्। अत्र तु "दिग्जेता जेतृजेता" इत्यादि शब्दैर्वीरोरसः साक्षाज्जागरूकत्वेन दृष्टिपथमवतर-ति। ततश्चश्लेषःसमाधिरौदार्यं प्रसादश्चेतिगुणचतुष्टय-मपि निर्विवादसिद्धमेवात्र लभ्यते-तस्यौजस्येवान्तर्भावात्। उक्तञ्चैतत्—

> "श्लेषःसमाधिरौदार्यं प्रसाद इति ये पुनः।
> गुणाश्चिरन्तनैरुक्ता ओजस्यन्तर्भवन्ति ते॥"

चित्रश्लेषावलङ्कारौ, शब्दालङ्कारेषु चित्रोऽलङ्कारः, श्लोकाक्षराणां मालाऽऽकृतेर्हेतुत्वात्। तल्लक्षणं यथा—

"तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता" इति काव्य-प्रकाशोऽर्थालङ्कारेषु च श्लेषोऽलंकारः सुस्पष्ट एव साहि-त्यदर्पणे—

> "श्लिष्टपदैरनेकार्थाऽभिधाने श्लेष इष्यते।
> वर्णप्रत्ययलिंगानां प्रकृत्योः पदयोरपि॥
> श्लेषाद्विभक्तिवचनभाषाणामष्टधा च सः" इति

तल्लक्षणात्। अलंकारद्वयमपि चैतच्चमत्कारकं प्रकाम-

तत्त्वात् । गौडी रीतिः, "समासबहुला गौडी" इति तल्लक्षणात् । काव्यकर्तुरस्य विदुषो महती कवित्वशक्तिः सुतरां श्लाघनीया, व्युत्पत्तिः प्रतिभा चापि महत्यस्या ग्रन्थस्य सम्पादिता भवेदिति नास्त्यत्र सन्देहावसरः कस्यचित् कदाचित् कस्मिंश्चिदपि । सत्यपि क्रियाभ्यर्थने सदृशान्तर-विधानान्याग्रहतरं प्रतिभाति, यस्मिंश्च व्याकरणे तत्तच्छ-ब्देषु कार्याणि शब्दान्तरप्रयोगेषु परिवर्तनदर्शनेनैव स्थानान्तर-निदर्शनं शब्दस्यैव वैलक्षण्यप्रदर्शिका सर्वसम्मतत्वेन ज्ञानगोचरतामुपैति, ततश्च "संस्कृती" इत्यस्मा-प्यागमानवगमितानि रूपाणि, यथा कृदन्तस्य पञ्चमीस-मर्थयन्ति रूपाणीत्यादि वक्तुं परिकृत नैविनाद-प्यभूवन्, न खलु शब्दाना सर्वाङ्गपरिवर्तनेन, अन्येऽपि सर्वे शास्त्रेषु कार्यानुरूपाङ्गं परिवर्तनविधानेनैव विरच-य्यन्ते प्रदर्शयिष्यन्ते । कोऽप्यत्र अकिञ्चित्करो टीकाकारोऽनुना सृष्टौ काव्ये वा सम्भूय इत्यादिकल्पनाः सकल सर्वेषां । प्रकृतेऽप्यत्रैव सम्पादनादि विलक्षणस्य पूर्वापरसम्बन्धनिर्वचनेनैव प्रायशस्थितमिदं इत्यवधार्य कविरयमत्र यथामति यथाशक्ति पाठ प्रदर्शयिष्यन्ते

[illegible]
[illegible]
[illegible]

जीतने वाले, और सब पर विजय पाने वाली जिह्वाओं वाले विद्वानों से अपनी बुद्धि के अनुसार की हुई स्तुति की धारा से पूजे हुए, अपने वंश की अपने पर ही समाप्ति करने वाले, दुर्जनों के बल को कुचलने वाले, और विलक्षण लीला (चरित्र) वाले, और अपनी लज्जा को अपने हाथ में रखने वाले, कार्य सिद्धि के लिए अपने शरीर की भी परवाह न करने वाले, जन्म से लेकर मरण पर्यन्त वीर्य रक्षा के कारण उत्पन्न हुए तीव्र तेज से ही मस्त रहने वाले, श्री विजयानन्द सूरि सर्वत्र और सदा विजयी होवें ॥१॥

अथ द्वितीयोऽर्थः

द्विजभजनजनिर्योगाभोगानुगामी जीयात्—द्विर्जायन्ते ते द्विजाः । तथा च स्मृतिः—

"जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद्द्विज उच्यते" योगी याज्ञवल्क्योऽपि—

"मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात् ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः" इति ॥

तेषां द्विजानां भजनात् सेवनादेव जनिः-जन्म यस्य स द्विजभजनजनिः, बाल्ये तु विद्याभ्यासार्थम् ब्राह्मणानां सेवा कृता, पालनपोषणार्थं च क्षत्रियवैश्यानां, श्रामद्वि-

यादिसम्पत्तिकेन च सत्कर्मोपदेशेन एव सन्मार्गे गमिताः,
तस्मात्सर्वं जीवनं द्विजसेवनेन एव व्यत्यापितमिति भावः ।
जनिः शब्दोऽत्र जीवनपरः प्रादुर्भावस्य तत्रापि सत्त्वात् ।
"भज सेवायाम्" इति भावे ल्युट् अतएव योगाभोगानु-
गामी, योगः—संगतिर्मेल इति यावत्, सापि द्विजैः सह एव
क्वचित्स्वयं गत्वा गुर्वादिभिः सह संगतिकरणम् क्वचिच्च
सर्वोत्रसमागतजिज्ञासुश्रावकसम्पृक्तेन सह संगतिः—नगरा
न्नगरं प्रति गमनेन तु स्वेच्छाकर्तृको योग उपदेशश्रव-
णार्थं समागतभव्यजनैः सह परेच्छाकर्तृको योगः—
"युजिर् योगे" इत्यस्माद्धातोर्भावे घञ् "चजोः कुघिण्ण्य-
तोः" इति जकारस्य गकारः "पुगन्तलघूपधस्य च" इत्य
नेनोपधाया उकारस्य गुणः तस्य योगस्याऽऽसमन्ताद्भोगः
परिपालनम् तमनुश्रित्य गच्छति—जीवनयात्रां निर्वहति
इत्येवंशीलं यस्य सः—योगाभोगानुगामी [illegible]
"भुज पालनाभ्यवहारयोः" इति पालनार्थकभुजधातोर्भावे
घञ् अनुदेशाद् "गम्लृगतौ" इत्यस्माद्धातोर्णिनिः,
"अत उपधायाः" इत्युपधाया वृद्धिः, अयं भाव
सत्कर्मनिवहेन सम्यक् परिशोध्य प्रयत्नेनानुश्रित्य
"सह नौकनः कर्मा युगे" इति न्यायाश्रयेण
सत्सङ्गेनैव द्विजेषु पाश्चात्यदेशागतजनानामपि नरः
द्विजोत्तम सर्वोत्तमाः, तस्माद्द्विजातिसेवनेन द्विज

द्धरणरूपां सेवां विधातुं धृतजन्मा यं महात्मा पूर्वंस्वयमेव संगतिरूपं योगमनुसृतः । जीयात्—संगतिविघटकविघ्न-सन्दोहरूपं शत्रुं निराकृत्य, स्वकर्मणि साफल्यं लभेत इति भावः । तथाकर्तुं विद्वानेव पारयति इत्याकाङ्क्षा-यामाह—कथंभूतःसः—शारदारक्तिरक्तः—विद्यानुरागवान् । पुनः कथंभूतो—दिग्जेता—दिग्विजयी, पुनः कथंभूतो—जेतृजेता—सर्वोत्कृष्टो जेता, पुन कथंभूतो—जिष्णुजिह्म-मतिनुतिगतिभिः पूजितो—मतिमद्भिर्यथाशक्ति समर्चितः । पुनः कथंभूतो—दायादयात्री—स्वसपिण्डानां चरमा गतिः, पुनः कथंभूतः—खलबलदलनः—स्वयोगबल (स्व संगृहीतशिष्यकोटिबल) दर्शनमात्रेणैवोत्सारितखलसमुदायः। पुनः कथंभूतो—लोललीलस्वलज्जः, सांसारिकचञ्चलविला-सेभ्यः स्वयं लज्जमानः।पुनः कथंभूतः—कदाराँदाऽस्यदारी, शरीरपरिचर्यायामनवधानवान्।पुनः कथंभूतो—विमलमधु-मदोद्दामधामप्रमत्तः—मातुः क्षीरोद्भूतवीर्येणैव प्रकृष्टतेज-स्वितां प्राप्त इत्यर्थः, पूर्वव्याख्यातत्वात्संक्षिप्तार्थोऽत्र दर्शितः ॥

भावार्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णों जातियों की विद्या के पठन पाठन तथा धर्मोपदेश द्वारा उप लोकादि गति की सिद्धि में सेवा करने के लिए ही जन्म धारण किये हुए, और, परस्पर संगठन व्यवहार में भी जीवन बिताने वाले, जिन्हों ने,

जगत्-विजय करने वालों में भी पूजे हुए, जीतने वालों को भी जीतने वाले, तथा दिगन्त पर्यन्त जीतने वाले, अपने पूर्वजों (वंशपरम्परा वालों) को भी प्रसिद्ध करने वाले, दुर्जनों के समुदाय को भी दमन करने वाले, चंचल लीलाओं* से अपने आप में ही अलिप्त रहने वाले, शारीरिक उदासीनता की चिंता से रहित, ब्रह्मचर्य के तेज से सदा प्रसन्न रहने वाले, श्री विजयानन्द सूरि सर्वत्र विजय प्राप्त करें ॥ ७ ॥

अथ तृतीयार्थः

शारदाभिकरणो योगाभोगानुगामी जीयात—

शारदा सरस्वती, "शारदा श्री सरस्वती" इति त्रिकाण्ड-शेषः, सा शारदा देवताऽस्येति शारदम् "सास्य देवता" इत्यण्, शास्त्रं,तस्मिन्नभिरतिः, न रतिरस्मात्सा अ-भिरत्नुन्नतरत्नसमासः, [अभिरतिरहिता समासः] शार-

* [illegible]

क्तिरित्यर्थस्तस्मिन् शारदेऽरक्तिः—शारदारक्तिः, तया शारदारक्त्या रक्तो—रञ्जितः शारदारक्तिरक्तः, शास्त्रान्तर्गतगाढप्रेम्णा तन्मयतां नीत इति भावः ।

योगाभोगानुगामी—योगो योगशास्त्रं दर्शनषट्कस्यैकाङ्गभूतम्, तस्याऽऽभोगः परिपूर्तिर्योगाभोगस्तस्मै योगाभोगाय, अनु—समीपं गच्छन्ति ते योगाभोगानुगाः, तेषां योगाभोगानुगानामसौ गतिराश्रय इति भावः, असौ योगाभोगानुगामः, "अम गतौ" इत्यस्माद्भावे घञ् ; मित्वाल्लोपधावृद्धिः । सोऽस्यास्तीति योगाभोगानुगामी, "अत इनि" इत्यनेनेनिः ॥

योगशास्त्रपिपठिषावतां हृद्गतसन्देहनिरसनपूर्वकं तत्परिपूर्णतां सम्पादयितुं तेषामाश्रयदातेत्यर्थः । अनेन योगशास्त्रपारङ्गमत्वमस्मिन् व्यञ्जयति कविरतएव द्विजभजनजनिः—द्विजसेवनपरः (द्विजातिरिक्तस्य योगशास्त्रानवगमात्तदुत्कण्ठैव न सञ्जायते)। द्विजानेव गुरुत्वेन सेवन्त इत्यतो द्विजानां भजनाय जनिरस्याऽभूत् ॥

न च द्विजेषु शिष्यत्वव्यवहारेण नाम सेवन इति तदर्थजन्मा, यथा जलस्थलयोर्नि[illegible] सेवनाय जन्मभृत् । योगशास्त्रेऽनन्यशरण्याद् द्विजैः, तत्र सेवनैता-इत्यादीनि विशेषणानि [illegible]

गर्जुष्टो योगशास्त्रवेद्यविशेषविज्ञानविद्यातकैविघ्नान् जीयात् तिरस्कुर्यादिति भावः । शेषम्पूर्ववत् ॥

भावार्थ—शास्त्रों में अनुपम प्रेम के कारण दिन रात स्वयं ही शास्त्र रूप बने हुए होने से योगशास्त्र के पार तक पहुँचे हुए, अतः एव योगशास्त्र के मर्म समझने के लिये आये हुए द्विजों के सन्देह दूर करने से ही द्विज सेवा के लिए ही जन्म धारण किये हुए, दिशाओं में जय प्राप्त करने वाले, जीतने वालों को भी जीतने वाले, और विजयशाली वाणी वालों से भी अपनी मति स्तुति गति के अनुसार पूज हुए, अपने कुटुम्ब वालों की यात्रा के आधार, दुर्जनों की दुर्जनता को दूर करने वाले, सांसारिक चंचल व्यवहारों में सबसे अधिक सत्ता धारण करने वाले, संसार की चिंता को उखाड़ने वाले, निर्मल ब्रह्मचर्य के तेज से उत्कट तेजस्वियों को भी तर्जित करने वाले, श्री विजयानन्द सूरि जी विजययुक्त होवें ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थांशः

दिग्जेता—जीयात्—

जा—मन्मथ भूतौ इत्यर्थः । "जः पुमान् पितरि मेरौ विष्णौ मन्मथे जने" इत्यभिधानराजेन्द्र-एकाक्षर-कोशः, तेषां जानाम् इः—निग्रहकर्त्तृप्रधानमिति यावत् "इर्मेदे मदनोत्कर्त्री निग्रहकर्म्मेऽनुकम्पने" इत्यभिधान

राजेन्द्रः, इत्येवं जेधूर्तदमनमित्यर्थः। तच्च शान्तरसेनैव, "अतिशीतलमप्यम्भः किम्भिनत्ति न भूभृतः" इति न्यायेन सदुपदेशैः स्वदर्शनप्रभावेणैव वा तद्हृदयेषु पश्चात्तापऽनुवृत्त्या धिक्करणमिति भावः।

तञ्जयं तायते—सन्तनोति—विस्तारयति—असौ जेता, "ताय् सन्तानपालनयोः" इति धातोः कर्त्तरि क्विप्, धूर्तदमनकर्ता इत्यर्थः। दिक्षु सर्वतो दिशाञ्जेता दिग्जेता, अतएव योगाभोगानुगामी, योगः—कर्मसु कौशलमिति वचनात्। योगः कर्मकुशलता, तद्व्यापारपारीणत्वन्तस्याऽभोगोऽन्यूनत्वं योगाभोगः, तत्र योगाभोगे (कर्तव्यचातुर्यसर्वस्वे) अनु—सादृश्येन गच्छति, सादृश्यं—यथायोग्यत्वं जानातीति वा इत्येवंशीलो योगाभोगानुगामी जीयादुत्कर्षम् भजताम्। कर्मसु निपुणतया यथायोग्यव्यवहारविदेव दिक्षु मात्सर्यनिराकरिष्णुः प्रभवितुं सम्भवति, ततश्च स्वत एवाऽपरे तद्वशगा भवन्ति, ततस्तेषामुपायस्तु करतलागतामलकवद्धस्तगत एव, अतएवाह—जेतृजेता सर्वजेता। जेतृणाञ्जये सिद्धेऽन्ये सामान्या जनास्तु विनायासमेव जिता भवन्ति, इति तत्त्वार्थः। ततो जिष्णुर्जिष्णुरित्यादि यथापूर्वं विशेषणान्वयं विधेयमित्यलं विस्तरेण ॥

भावार्थ—[illegible]

शत्रुओं को भी शान्त रस में ही डूबा देने के प्रकार का संचार करने वाले, इसी से अपनी कला कुशलता में पूर्णता प्रकट करने वाले, इसी से जीतने वाले से भी विजय पाने वाले, मद मात्सर्यादि का समूलोन्मूलन करने वाले, बड़े बड़े विद्वानों से भी प्रशंसा किये हुए, तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त, श्रीजिनदत्त सूरि सर्वत्र विजयी होवें ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽर्थः

जेतृजेता योगाभोगानुगामी जीयात्—

जयतीति जेता—कामः, सर्वेषां सर्वविजयित्वात्, तस्य विजयप्रकारान्तर्गतत्वं कुसुमायुधमाहात्म्ये प्रसिद्धमेव। भगवतो जिनस्य कुसुमशरविजयित्वेऽपि "सुरवरेशो सुरनरविजयी मन्मथो दुर्निवारः" इत्यभिहितत्वम्, अतः सर्वोत्कृष्टजेतृ-शक्तिमान् काम एव, तस्यापि जेता—भगवानिति, कामस्य सर्वजित्त्वात् तस्यैव तत्क्षण्मात्रजयादिति भावः। अस्यैव विजयोत्कर्षस्य तथा सम्पादने, योऽपि वैनायिकैव गुणानुपूर्वेण। यथा चोक्तं भर्तृहरिणा—

"मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः ।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥

इति कामविजेतेत्यर्थः । अतएव योगाभोगानुगामी, योगः सङ्गः कामुकानां गमाऽगमरूपस्तस्य योगस्य अभोगः—अनुपभोगः—अनाश्रयणमिति यावत् । तदुक्तम्—

"सङ्गः सर्वात्मनो हेयो यदि त्यक्तुं न शक्यते ।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सहितस्य हि भेषजम् ॥"

इति हेतोः सङ्गपरित्याग इत्यर्थः । तं योगाभोगम् अनु—अवधार्य, "अनु अवधारणे" इति शब्दार्थचिन्तामणिः । सम्यक् पूर्वापरं विचार्य गच्छति—जीवनयात्रां निर्वहति—इत्येवंशीलो योगाभोगानुगामी । सङ्गपरित्यागेनैव कामजेतृत्वस्य सम्भवात्, अतएव च खलबलदलनः, खलः काम एव मारकत्वात् । तस्य बलं सैन्यम्—लोभादिसमुदितं, तं दलयतीत्यसौ खलबलदलनः, जीयात्—मनोमालिन्यकरीर्वृत्तीः पराकुर्यादिति भावः । लोललीलरुचलज्ज इत्यादीनि यथायथं योजनीयानि । ग्रन्थभूयस्त्वभयान्स्थाने स्थाने न निगृह्यन्ते । पूर्ववत्तेषामन्वयो बोध्यः ॥

भावार्थ—संसार भर पर विजय पाने वाले कामदेव पर भी विजय प्राप्त करने वाले, तथा कामी जनों के संसर्ग तथा सम्पर्क मात्र से भी दूर रहने वाले, तथा क्रोधादिक रूप सैन्य दलों को इत्यादि मात्र को भी चूर चूर करने मलीनता उत्पन्न करने वाली

युवतियों से भी दूर रहने वाले, इसी प्रकार काम संचारक संसर्गों से भी दूर रहने वाले, कामी जनों के अपने शरीर में भी उत्पन्न हुई तृष्णा को सदुपदेश से निवारण करने वाले, ब्रह्मचर्य के निर्मल तेज से असद्भावना को मिटाकर प्रसन्न रहने वाले, श्री विजयानन्द सूरि सर्वत्र विजय को प्राप्त होवें ॥ ५ ॥

अथ षष्ठांशं

जिष्णुजिह्वर्मनिनुनिगनिभिः पूजितो योगमार्गानुगामी जीयात्—

जयनशीला जिह्वा यस्यासौ जिष्णुजिह्वस्तत्सम्बुद्धौ हे जिष्णुजिह्व ! मनिनुनिगनिभिः (सप्तभूतानिः) पूजितः, पूजा सञ्जाता यस्यासौ पूजितः, पूजावान् सूरि-पूजाप्रचारार्थमित्यर्थस्तत्र्यमपि ज्ञेयः । यः—आगतोऽपि, आद्दृदेशात "इष गतौ" इत्यस्य लङि मध्यमपुरुषैकवचनं रूपमिदम् । स्वयूथ्यस्तुत्यर्थमस्त्येवमानामिदं पूजा कर्तव्या इति सिद्धान्तयुक्तः सामर्थ्यात् तु त्वमेवासत्य-तोऽपि पुनर्मूर्तिपूजाविधानाय इत्यारब्धम् । पूजित. पूजा-सञ्जाता यस्य सः "तदस्य सञ्जातन्तारकादिभ्य इतच्" यथा तारकित नभः, पण्डितः पण्डित इत्यादिवत्, आकृति गणत्वात ।

कथमभूतम्पर्वस्यातात्ताय—योगमार्गः, यागः वा

स्स्थैर्यकरप्रयोगः, तीर्थङ्कराणाम्वपुःस्थैर्यकरप्रयोगवान् इत्यर्थः। वपुः शरीरं मूर्त्तिरिति यावत् स्थिरतां नेयं स्थापयितव्यमित्यर्थः, एवमात्मकः प्रयोगो व्यवहारः "योगोऽपूर्वार्थसम्प्राप्तौ सङ्गतिध्यानयुक्तिषु"। "वपुः स्थैर्यप्रयोगे च विष्कुम्भादिषु भेषजे। विश्रब्धघातके द्रव्योपायसन्नहनेष्वपि। कार्मणेऽपि च" इति मेदिनी। तेन योगेन वपुःस्थैर्यप्रयोगेण, आभा शोभा (यशो) यस्याऽसौ योगाभः, पुनःकथंभूतो-गानुगामी, गः—गाथा, लोके तु गाथा शब्देन कथा गृह्यते, तन्मूर्तिप्रकरणे पूर्वकालिककथासु जैनशास्त्रेष्वपि मूर्तिपूजा क्वचिद् दृष्टा भवेत् तदनुकूलगामीत्यर्थः। परञ्जैनशास्त्रेषु बौद्धशास्त्रेषु चापि गाथाशब्दः प्रमाणिकश्लोकपरस्तद्विषयेऽपि प्रमाणिकश्लोकम् (सूत्रं वा) अनुसरणशील इत्यर्थः। एतेनात्मारामागमनसमयात् प्राक् मध्ये मध्ये मूर्तिपूजनं लुप्तप्रायमभवत्, परङ्गाथाऽनुगामिनोऽस्य हृदि पुनरपि पूजाभावः सञ्जातः, तत एवानेन स्थाने स्थाने मूर्तिस्थापनयोगेन कीर्तिर्लब्धा। तत एव योगाभोगानुगामीति विशेषणद्वयं संगच्छते। एवम्भूतस्त्वमेव गुः। अतो दिग्जेता जैतृजेता शारदारचितरचनो द्विजगाजनजनिरित्यादिविशेषणैर्युक्तो भवानिति शेषः, जीयात्—पराभूयात् मूर्तिपूजनखण्डनपरान्, इति भावः। गकारस्य गाथा[illegible] निघण्टुन्तु शब्दकल्पद्रुमे वचनं। तद्यथा—

"गो गौरी गौरवी गंगा गणेशो गोकुलेश्वरः।
शार्ङ्गी पद्मात्मको गाथा गन्धर्वः सर्वगः स्मृतिः॥"

भावार्थ—हे विजय करने वाली जिह्वा वाले शास्त्रों से तीर्थंकरों की प्रतिमा सिद्ध करके शोभा (प्रसिद्धि) पाने वाले, तथा गाथा और सूत्रों के अनुकूल आचरण करने वाले, मति तथा प्रशंसा तथा सामर्थ्य के अनुसार मूर्ति पूजा का प्रचार करने वाले, कई शताब्दियों के अनन्तर इस प्रकार द्विजों को अभ्युदय प्राप्त कराने की सेवा के लिये जन्म धारण किये हुए, तथा विद्या पढ़ने पढ़ाने के अर्थ गुरुकुलादि के खोलने आदि के उपदेशों के दाता, कुतर्कवादियों के जेता, मूर्तिपूजा के खण्डनकर्ताओं के जेता तुम्हीं एक आये हो, अतएव अपने कुलवालों का भी उद्धार करने वाले, शत्रुओं के जीतने वाले, संसारी व्यक्तियों से दूर रहने वाले, अपनी सत्ता के सम्भालने वाले, मिथ्यावादियों की निन्दा को मिटाने वाले, आप विजयी होवें ॥ ६ ॥

अथ सप्तमः श्लोकः

दायादयायी योगाभोगानुगामी जीयात्—

दायादाः—पुत्राः, यथा पार्थिवानां पुत्रा दाया दाम्नेव गर्भिता लिप्सा दायादाः, यानं या गतिर्यांसो इत्यर्थः। दायादाना लिप्साला या गतिरिति दायादया "पद दाने" इत्यादिकात्रोर्णिच, तस्य दायादय

त्राणम् दायादयात्राः, सोमपावदाकारान्तः शब्दः, सोऽस्यास्तीति दायादयात्री, शिष्यमार्गमनुयानपर इत्यर्थः। दायादयापूर्वकात् "त्रैङ् पालने" इत्यस्मात् कर्मणि क्विप्, "अत इनिठनौ" इतीनिः प्रत्ययः।

अयं भावः—यद्यपि जैनसाधूनां काचिद्विशेषरूपेण सम्पत्तिर्नहि भवति, तथापि गुरूपदेशमार्गेण तत्तद्व्रतनियमादिपालनं तद्धर्मानुष्ठानं तदनुकूलमेव युवराजमहाराजादिपदवीप्राप्तिरेव, एतेषामपि दायो लोकैः राजन्यवस्यादिपुचापि मन्यत एव, तदधिकार्येषामपि दायादस्तस्य दायादस्य मार्गो—गुरूपदेशश्रवणं, तदाज्ञामनुधावनञ्च, तत्पालयितेत्यर्थः। अतएव योगाभोगानुगामी, योगास्तत्पालनार्थका उपायाः, योग उपायेऽपीति मेदिनीति पूर्वं निदर्शितम्, तेषां योगानां आ—ईषद्, भोगः—कौटिल्यम्, "भुज कौटिल्ये" इत्यस्मात् घञ्, योगाभोगमनु (हीनं मत्वा) गच्छतीत्येवंशीलः, जीयात्—निरवशेषतया स्वाधिकारोत्कर्षभाग्भवेत (भवान्)। अवशिष्टविशेषणानि यथापूर्वम्॥

भावार्थ—गृहस्थों के पुत्र पौत्रादि की तरह अपने गुरु के धर्म रूप सम्पत्ति का पालन करने वाले, तथा उनके उपदेश के मार्गों में जाने वाली कुटिलताओं के नाश करने में तत्पर, विघ्नों पर विजय पाने वाले, दिगम्बर मुनी के पक्ष हैं।

तथा विचित्र लीला वाले, भली प्रकार सुशोभित जय से युक्त, अपने गुरु आदि देहधारियों की धर्म रक्षार्थ आगामी विपत्ति मिटाने वाले, और ब्रह्मचर्य से उत्पन्न हुए विशेष तेज से तेजस्वी, उच्चजाति में प्रादुर्भूत, सरस्वती देवी के विशेष पुजारी, श्री विजयानन्द सूरि विजय को प्राप्त करें ।

अथाष्टमोऽर्थः

खलखलदलनो गोगाभोगानुगामी जीयात्—

गमाकाशः "गमिन्द्रिये पुंसि धेनौ स्त्रियां निर्जरे विहायसि" इति मेदिनी । तस्मिन् गे-आकाशे खो येषान्ते गखगाः मेघाः । अत्र खः शब्दः, "शब्दे निनादनिनदध्वनिध्वानरवस्वनाः" इत्यमरः । खलयोरैक्यात् गखगा एव गखलास्तेषां गखलानां लः इन्द्रः—गखलो मेघराजः, "लश्चन्द्रः पुनना पृथ्वी माधवः शक्रवाचकः" इति शब्दकल्पद्रुमः । खलयोरैक्ये वचनन्तु—

"डलयोर्लरयोश्चैव शसयोर्वबयोस्तथा ।
वदन्त्येषाञ्च सावर्ण्यमलङ्कारविदो जनाः ॥"

अन्यच—

"यमकश्लेषचित्रेषु बवयोर्डलयोर्न भित् ।"

इत्यलङ्कार-शेखरेऽपि । तस्य गखलस्य दलन ममद इत्यर्थः, "दृमदे" इति चौरादिकस्य धातुरस्य

. औणादिकान्नन्द्यादिलक्षणो ल्युप्रत्ययः, खलबलदलनो मेखराजस्यापि भापयितेत्यर्थः, इन्द्रोऽप्यस्य योगविभूतिभ्यो भीतः सर्वथास्याज्ञाकारक इवासीत् ॥

एतच्चित्रमत्रैवाऽम्बालयनगरे जैनमन्दिरस्य प्रतिष्ठावसरे महोत्सवार्थं सुसज्जीकृतस्य विविधवर्णैः पत्रपर्णादिभिरङ्कितस्य स्वचाकचिक्येनावर्जितसर्वजनीनमानसस्य समागतसभ्यजनोपवेशनार्थं परिष्कृतस्य सभामण्डपस्य रचनायास्तत्कालमेवैकत्रीभूतस्य मेघाडम्बरस्य धारासारैः सम्भावितसमूलनाशस्य भीत्या परिखिन्नमनस्कैः प्रबन्धकर्तृभिः सानुनयं साग्रहञ्चापि निरभ्रीकरणेन तद्रक्षार्थम्प्रार्थितेनानेन मुनिना, तत्क्षणमेवैकामभ्रंलिहां पताकां रचयित्वा तन्मध्यस्तम्भेन सहोन्नततरां तां बद्ध्वा तत्प्रभावेण तद्बन्धनसमकालमेव निखिलमेघात्ययमाकाशमण्डलम्भानुभाभासितङ्कृत्वा नैर्मल्यचयता प्रदर्शितमिति नाद्यदिनचरन्तान्कालिकानामम्बालयनिवासिनां किञ्चिज्जैनानाम् । एतद् द्रढयितुमेवाह—योगाऽभोगानुगामीति । योगः—सन्नहनम्—कवचधारणमित्यर्थः, स च मन्त्रमयो, यथा शास्त्रेषु दैवीकवचं नारायणकवचं गोपालकवचमित्यादयः कवचा उपलभ्यन्ते, तथैव जैनग्रन्थेष्वपि मन्त्रैव सूरिमन्त्रादयस्ते चापि योगविभूत्या निर्मिता भवितुमर्हन्ति । तस्य योगस्याऽऽभो-

णो—यन्नः "आमांगो वरुणच्छुते पूर्णानायन्त्वयापि" इति.
विस्वर्मदिन्यां, तत्र यत्नामांगेऽस्तु—मादृशेन—यथापल-
त्येन गच्छन्तीनिशीला योगामांगानुगामी, यत्र यत्र
यादृग्यादृशस्य योगस्याकाङ्क्षा वर्तते, तत्र तत्र ता-
दृग्तादृशस्य वचनस्य प्रयोगकर्तेति भावः । जीयात्—
जीव्यादित्यर्थः, धातूनामनेकार्थत्वात् । तदुक्तम्—

"निपाताश्चोपसर्गाश्च धातवश्चेति ते त्रयः ।
अनेकार्थाः स्मृताः सर्वे पाठस्तेषां निदर्शनम् ॥"

अतः प्रश्न द्विजमजनजनिगन्यादिकानि विशेषणानि
यथान्यायं प्रयान्ति ॥

भावार्थ—सदा के राजा इन्द्र पर भी अपनी [illegible] के बल
से शासन करने वाले, सदा [illegible] के [illegible] (विशेषकर)
से [illegible] करने वाले, सदा अपने [illegible] को [illegible] करने
वाले, सदा [illegible] के [illegible] से विचित्र [illegible] दिखाने वाले,
[illegible] से अपने [illegible] की [illegible] वाले [illegible]
[illegible] के विशद ज्ञान के [illegible] किया को
[illegible] और [illegible] की
[illegible] करने के लिए अपनी [illegible]
[illegible] दिखाने वाले, [illegible]
[illegible] और [illegible]
[illegible] होवें ।

(नोट) सुना जाता है कि जिस वर्ष अम्बाले में जैन मंदिर की प्रतिष्ठा हुई थी। उस समय उत्सव के लिये जो रङ्गभूमि (पण्डाल) की रचना की गई थी। वह कागज़ पत्र पत्ते के काम से बहुत सजाई थी। परन्तु जिस दिन उत्सव होना था, उस दिन प्रातः काल ही बड़ी भारी घनघोर काली घटाएं उमड़ आईं, मानों आज प्रलयकाल सदृश वृष्टि होगी, और सारा पृथ्वीतल जलमय हो जायगा, इसे देख कर सभी श्रावक बड़े भयभीत हुए, और महाराज से प्रार्थना करने लगे कि किसी तरह से यह वृष्टि टल जाए, तब श्रीगुरुमहाराज ने सवा गज़ लट्ठा मंगवा कर उसका त्रिकोण झण्डा बना कर, उस पर केसर से स्वस्तिक बनाया और केसर के ही कुछ छींटे दे कर मण्डप पर ध्वजा बना कर बन्धवा दिया। ज्यों ज्यों हवा से ध्वजा लहराने लगी, त्यों त्यों काली घटाओं का आडम्बर भी दसों दिशाओं को भागता हुआ नज़र आया, और थोड़ी ही देर में आकाश निर्मल हो गया, इस से सिद्ध होता है कि इन के प्रभाव से इन्द्रादि देवता भी प्रभावित रहते थे, इन उपरोक्त अर्थ में इसी प्रसंग का दिग्दर्शन कराया गया है।

अथ नवमोऽर्थः

लोलल्लीलस्थलज्जो योगाभोगानुगामी जीयात्—

अत्र हि, ल—उ—ल इति छेदः, ल इत्यक्षरमम्बरार्थे— आकाशार्थे वर्णे, उः—तोयार्थे (पाणिनि), पुनर्लो दानादाने, तथा चैकाक्षरकोषोऽभिधानराजेन्द्रोऽपि—

"लो लवनेऽम्बरे चार्दे दानादाने सुखे सूने।
आश्लेष लालने लूने इन्द्रे नापि न्यूनो सुधैः॥"

तडित्त्वम् लेऽस्यं, थः—तोयस्य, लः—दानादाने, इति लोलः । कदाचित्पर्यङ्केर्भूमिमाहृत्य जलमाकाशस्य दीयते, कदाचिच्चाकाशादादाय भूमौ सिच्यते दीयते । न च शंक्यम्—भूमावप्याकाशसद्भावात् ततो यदि नीयत इति, यतः सुश्रुतमतेन पञ्चैव महाभूतानि परस्परमनुप्रविष्टानि सन्ति, स्वस्वस्थाने द्रव्ये वा प्राधान्येन तेषां व्यक्तिः परिगणना च । तदुक्तं सुश्रुते—

"अन्योन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत् ।
स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तलक्षणमिष्यते ॥" इति

यथा हि भूमावाकाशसद्भावस्तथैवाकाशेऽपि भूमिसद्भावः, प्राधान्यन्तु भूमौ भूमेरेव, आकाशे—आकाशस्यैवेति न्याय्यत्वात् । तस्य लोलस्य लीला खेलः (नाटकम्) । लोललीला, "लीलाविहृतः केलिविलासशृङ्गारभावप्रभवक्रियासु" इति विश्वः । लोललीला इव लीला यस्य तल्लोलललीलालीलम्, लोललीलालीलस्य तत्त्वम् (धनम्) लोललीलत्वं "शारदादिवार्दानां विद्युदुत्पतनावस्थासमुद्भूतम्" इत्यनेन लोललीलालीलस्य लीलायितस्य भावः, शारदादिवार्दानामाकृतिवत्त्वात् । तस्माल्लोलस्तस्मात्तडितं—विद्युल्लताया लोललील तत्त्वाः, इत्यादि च ।

अयम्भावः—यथा जलं सूर्यरश्मिभिः प्रणीयमानं कदाचिद्भूमौ कदाचिदाकाशे बम्भ्रमीति नैकत्र तिष्ठति, तथैव धनमपि दैवेनातितराम् प्रणोद्यमानम् कदाचिद्राज-कोशेषु कदाचिच्च प्रजाकरेषु विचरति नैकत्र तिष्ठति । त-दर्थमेवोक्तम्—"मा गृधकस्य स्विद्धनम्" इति तस्मात्कार-णादेव सन्यासिभिस्तत्स्पर्शमात्रमपि निषिद्धम् । अतः सन्यासधर्माद्बहिर्भूतत्वात्तत्स्वीकरणम् लज्जावहमेव, तदेव परिपोषयत्युत्तरवचनेन योगाभोगानुगामीत्यनेन । योगः—अलभ्यलाभोऽलभ्यानां धनादीनां लाभः प्राप्तिरितिश्रीम-द्भगवद्गीताटीकायाम् श्रीधरस्वामी,तस्य योगस्य धनादि-लाभस्य—आभोगः—अनुपभोगः, [प्राप्तस्याप्यस्वीकारः] इति योगाभोगस्तं योगाभोगम् अनु—सादरेण यथार्हत्वेन गच्छतीत्येवंशीलो योगाभोगानुगामी ॥

अयं भावः—यद्यपि युधिष्ठिरादिनृपकुलगुरोर्द्रोणस्य स्वभावेनैवालभ्यलाभः सम्भाव्यते, तत्रागतस्यापि धनस्य पैतृकसम्पत्तेर्वापि भोगं [illegible] प्रजाजितोऽयं महात्मा यद्-तादृशस्य महात्मत्वस्यैतदेव युज्यते, अयमेव (खलु) इन्द्र-व्ययस्य सादृश्यभावः । एवंभूतोऽप्ययं महात्मा पूर्वजन्म-कृतस्य कस्यचिदज्ञानपापस्यानन्तलाद्येन, कस्मादपि योगा-त्प्रच्यावितः सन् धनान्धभूपैर्भीष्मादिभिः [illegible]

प्रभूणां वशगो भूत्वा स्वतन्त्रतां [illegible]

सदृशीति दीपाद्—इत्यतु, अतः एवं सर्वाणि विशेषणानि यथास्थानं स्वेस्वे पदार्थे पूर्वोक्तक्रमेण योज्यानि । इत्थं विम्बेन विहन्तु ॥

भावार्थ—[illegible]

[illegible]

केदारगौडरागेण गोपागोपानुगामी दीपाद—

केदार:—[illegible]

[illegible]

केदारौंदास्यदारः, सोऽस्यास्तीति—केदारौंदास्यदारी, अतएव योगाभोगानुगामी । योगाः—युक्तयः "योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु" इत्यमरः, ता युक्तयस्त्वा- प्येतत्सम्बन्धिन्य एव। कस्मिन् क्षेत्रे को नियोज्यः, कथञ्चा- सौ भूभागः समधिकफलप्रदः स्यादित्याकारिकाः, तेषां योगानां युक्तीनाम् आ—मर्यादया भोग उपभोगो व्यवहारो- ऽसौ योगाभोगस्तं योगाभोगम् अनु हीनं तुच्छं मत्वा गच्छ- ति (स्म इति शेषः) इत्थंशीलो योगाभोगानुगामी । पूर्वा- र्धेङ्गितस्यैव स्पष्टार्थः स्पष्टीकरणमेतत् 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' इति न्यायात् । प्रव्रज्याकाले स्वभूभागस्य प्र त्नप्युत्तया- दिकमनाहत्याऽक्रोशतो बन्धूंस्त्वाप्यनाहत्य प्रव्रजितोऽयं महात्मेत्यादिप्रशंसाजन्याभिमतिं जीयात् । अवशिष्टं यथापूर्वमिति ॥

भावार्थ—अपने पिता पितामह आदि की परम्परा से प्राप्त भूमि क्षेत्र गृह आदि के सम्बन्धमें उत्पन्न हुई चिन्ता को प्रव्रज्या (दीक्षा) रूप खड्ग से काटने वाले, केवल ब्रह्मचर्यरूपी धन से [illegible] अर्थात् [illegible], और [illegible] रहने वाले, उन देहक [illegible] की योजना की युक्ति [illegible] से [illegible] करने [illegible] हितों से [illegible] की तरह [illegible] [illegible] [illegible] किये हुए, [illegible] [illegible] के [illegible] [illegible] और [illegible] पर भी [illegible] वाले, [illegible] [illegible]

भी प्रतिष्ठा पाये हुए, अपने वंश को प्रसिद्ध करने वाले, लोभरूपी दुर्जन के बल को दलने वाले, लोभ की चंचल लीलाओं को भी अपने ज्ञान की छटा से लज्जित करने वाले, श्रीविजयानन्द सूरि विजय को प्राप्त करें ॥१०॥

अथैकादशोऽर्थः

विमलप्रभुमदोद्दामधामप्रमत्ता योगाभोगानुगामी जीयात्—

विगतं मलं यस्मात्स विमलः—अर्हन्, इति हेमचन्द्रः। स विमल एव प्रभुः—समर्थोऽर्थी विमलप्रभुः, तस्य विमलप्रभोर्मदः कल्याणवस्तु विमलप्रभुमदः "मदो नदे कल्याणवस्तुनि" इति धरणिः, तस्य विमलप्रभुमदस्य—उद्दाम—अप्रतिरुद्धं, धाम प्रभावः तद् विमलप्रभुमदोद्दाम-धाम "उद्दामः प्रांशावपि, अप्रतिरुद्धे, स्वतन्त्रे, महति" इति शब्दार्थचिन्तामणिः, "धाम, गेहे, देहे, रश्मौ, स्थाने, प्राधान्ये, जन्मनि, प्रभावे, त्विषि, ज्योतिषि, स्वयम्प्रकाशे, ब्रह्मणि" इत्यपि शब्दार्थचिन्तामणिरेव, तेन विमलप्रभु मदोद्दामधाम्ना प्रकर्षेण माद्यति—प्रहर्षति विमलप्रभु मदोद्दामधामप्रमत्, प्रत्येकशः 'मद विलोडने' इत्यादिकात्क्विपि कृते, तस्य प्रमदो भावः प्रमत्ता "तस्य भावस्त्वतलौ" इत्यनेन तल् प्रत्ययः, तदन्ता

स्त्रियां, सा विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्ता यस्याऽस्तीति—विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्तः, "अर्शआदिभ्योऽच्" इत्यच् प्रत्ययः ।

अयं भावः—अर्हन्—मधुस्रावी द्रुमः, यथा द्रुमाणां सकाशात् फलार्थिनो जनाः फलानि, काष्ठार्थिनोऽपि काष्ठानि, पत्रार्थिनः पत्राणि, त्वगर्थिनस्त्वचम्, छायार्थिनश्छायामेव लभन्ते, सामान्यतश्छाया तु सर्वेषामनुपक्षादेव जायते । एवमर्हन्नपि, यं भावमुद्दिश्य जनाः एतच्छरणमायान्ति, तेषां तांस्तान् भावान् पूरयति । तथापि हिंसोपरमणरूपा शान्तिस्तु सर्वेषामनुपक्षादेवाविर्भवति, एषा शान्तिरेव कल्याणवस्तुरूपो मदः, तस्य विमलमधुमदस्यानिरुद्धतेजःप्रभावेणैवायं महात्मा परान् प्रधर्षयति, एतादृशीं शक्तिं दधदासीत्, (अर्हन्मतानुसारीति ध्वनिः)। अतएव योगाभोगानुगामी, योगः—अपूर्वार्थसम्प्राप्तिः, तस्य योगस्य—आभोगः परिपूर्णत्वं योगाभोगः, तं योगाभोगमनु (तेन सह) गन्तुशीलो योगाभोगानुगामी । तदनन्तरं जिनभजनजनितेत्यादीनि विशेषणानि संयोज्य, जीवान्—उत्कर्षं भजेदिति योजनीयम् ।

भावार्थ—श्री अर्हन्त देव के [illegible]

[illegible]

धर्षित करादेने वाले, तथा नये नये अर्थों की रचना से अनुरूप मन का ज्ञान दर्शाने वाले उच्च कुल तथा उच्च जाति में जन्म पाये हुए, अपने शास्त्र की विद्या से रद्द देनेवाले, देश देशान्तरों में जय पाने वाले, इसी प्रकार अपने यश की प्रतिष्ठा करने वाले, प्रतिपक्षियों की चपल आत्माओं पर सुशोभित जय पाने वाले, परदेश गमन के विचार से उत्पन्न हुई चिन्ता को अपने शिष्यादिकों को भेजकर मिटाने वाले, श्री विजयानन्द सूरि जी विजयी होवें ॥११॥

अथ द्वादशार्थं

अथाधुना विमलमनस्यादस्य पदस्य तृतीयोऽर्थः पुनरपि प्रदर्श्यते ।

विमलमनुमदोद्दामधामप्रमाणां गीर्गाम्भीर्यानुगामी जयताम्—

अत्र—उः—हः—इति छेदः, तत्र उः—इति नरपि, हः—इति पदं, यतो गेन इत्यभिधानराजेन्द्रः । तद्वितीयर्थो नरपि च हः—गतोऽस्मीति, (तत्र रचितः मनागप्यनवधानेन गता आपन्ने) तस्य त्रः । तथाजन्यगणस्य ये मना वाञ्छितमताञ्चस्यन्ते विमनाः, मनोमालिन्यरूपन्यानन्दना इति यावत् । आप्नुहि मलिना ते विमला एव मदाः-मनोविलासाः ते विमलमदाः, तेषां मद - उत्तम विमलमदः,

पाध्यारोपे" इति शब्दार्थचिन्तामणिः, विमलमधुमदम् उद्दाम्ना महता धाम्ना तेजसैव प्रमथ्नातीति विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्, तस्य भावः तत्ता सा यस्यास्तीति विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्तः । तपउद्धतरोगाणामपि तेजःप्रभावेणैव नाशयितेत्यर्थः । अतएव योगाभोगानुगामी, योग.—भेषजसमुदायः तस्य अभोगः—अनुपयोगः, (आ मर्यादया भोगो भोजनमिति वा) स्वस्य कृते विनिर्मितानान्तु अभोगः, अन्यैर्गृहस्थिभिस्तदर्थमुद्दिश्यानीतानामप्यभोग एव, अनुपज्ञात् ग्रामानां श्रमणकैरानीतानामपि दिनशेष एव भोजनमिति मर्यादया भोगः । तं योगाभोगमनु साद्दश्येन—अर्हन्मतानुशासनानुकूलं गच्छतीत्येवंशीलो योगाभोगानुगामी । अतएव केदारोदास्यदारीत्यादिप्रथमव्याख्यार्थकानि विशेषणानि योजनीयानि । परतस्त्व जीयादिति—तपोभङ्गसमुत्पादकविघ्ननिचयं जयेदिति कविकामनाकान्तोऽयमर्थः । अनेनाधिव्याधिनिमुक्तोऽयमस्य प्रभुत्वं संसूचितमिति कृतं बहुना ॥

भावार्थ—असावधानी से किसी भूल से उत्पन्न होने वाले रोगों की उत्कट वृद्धि को भी अपने प्रभावशाली तेज से ही कुचलने वाले, आयुर्वेद तथा शास्त्रों आदि औषधियों का प्रयोग न करके ही अनुकूल भोजन [illegible] वाले, [illegible] के आसन के लिये ही अन्न भोजन करने वाले, तथा दिन के शेष [illegible]

दिग्गजों में विजय प्राप्त करने वाले, प्राणीमात्र को जीतने वाले, उत्कट शत्रुओं (क्षुधातृषादि) को भी अनादि से जीतने वाले, इसी लिये बड़े-बड़े व्याख्यानाओं से भी प्रशंसा किये हुये, ऐसे पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द सूरि विजय प्राप्त करें ॥२८॥

अथ त्रयोदशोऽर्थः

केदागीदाभयदारी योगाभोगानुगामी जीयात्—

कः आत्मा, इः—ज्ञानम्। तथा चैकाक्षरकोशः—"को ब्रह्मात्मप्रकाशार्ककेकिवायुयमाग्निषु", "इः कामे मार्गे मते ज्ञाने पद्मदलेऽपि च"। कस्य—इः—केः—आत्मज्ञानम्, तत् ददाति इति केदः, आत्मज्ञानदातेत्यर्थः। तत्सम्बुद्धौ—हे केद!। गीः—गिरः, "गीः—सम्भाषणे गिरा निगदे शुद्धवाणीं च" इति शब्दार्थचिन्तामणिः। ताम् आगम गिरं ददति ये ते—गीदाः, गीपूर्वकात् "दैप् शोधने" इत्यतः क्विप्। परस्परविरोधनिरासका उपदेष्टार आत्मज्ञानिनोऽपि भावः। तेषां गीदानाम् आभयं भयं द्यति—खण्डयति आत्मज्ञानेन विरोधिमतनिराकरणेन। अभयदात्रीत्यर्थ दो दः। योगाभ्यासेन महान्—आभोग आभयं वा, "अभ पालने" इत्यस्य क्विप् प्रत्ययपूर्वकस्य

रूपमेतत् ॥

अयं भावः—हे केद ! (आत्मज्ञानप्रद !) त्वत्तः पूर्वमपि बहव उपदेष्टारो विरोधनिवारका आसन्, परं बहुप्रयतमानैरपि तैः साफल्यं न प्राप्तम् । सम्प्रति तु त्वदात्मज्ञानोपदेशेन सर्वो विरोधो नष्ट इति हेतुनाऽऽश्चर्य्येण मुखं व्यादानास्तिष्ठन्ति ते । तेषामपि चेतांसि चित्रयितुम् भवानायात इत्यर्थः । यतो भवान् योगाभोगानुगामी, योगः निष्कामकर्म, "योगो निष्कामकर्मणि" इति शब्दार्थचिन्तामणिः । तस्य योगस्य निष्कामकर्मणः—आभोगः परिपूर्णता तेन योगाभोगेन—अनु (सह) गच्छतीत्येवंशीलो योगाभोगानुगामी । ततश्च प्राथमिकार्थविशेषणानि संयोज्य, जीयादित्यनेनान्वयो विधेयः ॥

भावार्थ—हे आत्म ज्ञान के देने वाले गुरुदेव ! उपदेश द्वारा परस्पर विरोध के मिटाने वाली शिक्षाओं के दाता, पूर्व उपदेष्टाओं के प्रयत्न करने पर भी उन में सफलता न प्राप्त होने से सदा उसी कार्य में अनायास ही सफलता दर्शाकर उन पूर्व उपदेष्टाओं को हक्का बक्का बना देनेवाले, आपही आये हैं। क्योंकि आप पूरे मनोयोग से निष्काम कर्म करने के मार्ग पर चलने वाले हैं। इन्हीं आत्म ज्ञान से ही स्त्रियों की सेवा करने के लिये जन्म धारण किये हुवे, इन्हीं विद्या के बल से पूरी [illegible] वाले, [illegible], सेनाओं के भी नेता, आत्म ज्ञान की सिद्धि के [illegible]

प्रतिष्ठा पाये हुये, और गुरुजनों की इस विद्या के प्रचार करने वाले, संसार की विविध लीलाओं (खेलों) को स्वयं शमित करने वाले अर्थात् उनमें मुग्ध न होने वाले, श्री विजयानन्द सूरि हम को ज्ञान करें ॥१३॥

अथ चतुर्दशार्थं

लोलन्नीलम्बलज्जो योगाभोगानुगामी जीयात्—

लालन्नीलम्बलज्ज इति पदच्छेदेन विलासार्थकत्वं विचार्यतेऽत्र । ल:—आश्लेषः, "लो लवने, सूते, सूने, आश्लेषे" इत्यभिधानराजेन्द्रः । उ:—व्यसनम्, "उः निरे, प्रश्ने, निर्देशे, वरुणे, व्यसने" इत्यपि स एवा- भिधानराजेन्द्रः । ललनं लनः प्रीतिः, "लन प्रीति- मेतनयोः" इत्यनो धनर्थं कः । तदित्थ—लस्याऽश्लेषस्य आश्रमल्लालनस्य पदं स्थानमस्य -अनेकार्थनानकाल्यकाव्ययोगिनः उ:—व्यसन स्याभाविरवमिमः । ओरेष इत्युद्भासमाना । इति लोः श्लेषरसं, तस्य लाः आश्लेषस्यालनस्य ललनः— तेन लोलनः, सोऽस्यास्तीति लोलनी, "अत इनि" इत्यनेनेनिः । सर्वत्रापिस्त्रणां श्लेषप्रीतिमान् इत्यं कश्चित् कामिवदवृत्तगुणः अागत । तदुक्तम् -

"स्तनः कामिनामिन्दोः नानारसानादिकलना
तदपि हृदयगुणगाना मुग्ध बाला गृह लिह ॥ इति

लः—चन्द्रमाः, "लश्चन्द्रः पूतना पृथ्वी माधवः शक्र-वाचकः" इतिशब्दकल्पद्रुमः, "सु—इत्यव्ययं प्रकर्षार्थे" "अल् भूषणे" इत्यस्य शत्रन्तप्रयोगः—अलत्, "जस्तेजसि" इत्यभिधानराजेन्द्रः । तदेवं सु—सुष्ठु (सुतराम्) अलदिति स्वलत्, लः—चन्द्र इव स्वलत् इति लस्वलत्, लस्वलत् जः (तेजो) यस्याऽसौ लस्वलज्जः—चन्द्र इव शान्ततेजस्वीत्यर्थः । ततश्च योगाभोगानुगामी, "योगः—अघटघटनासामर्थ्याऽतिशये" इति शब्दार्थचिन्तामणिः, तस्य योगस्याऽऽभोगः परिपूर्णता योगाभोगः, तस्य योगाभोगस्य—अनु (पश्चात्, पृष्ठतो वा) गच्छतीत्येवंशीलः । विचित्रघटनाघटकशक्तिबहुलतामनुसृत्य विहरणशील इति भावः । अतः परञ्च खलखलद्दलन इत्यादीनि विशेषणानि नियोज्यानि । ततो जीयादिति ॥

भावार्थ—एक एक शब्द के व्याकरण तथा कोषादिकों से अनेक अर्थ निकालने तथा अनेकार्थों में एक शब्द का प्रयोग करने के स्वभाव वाले, तथा असम्भावित अर्थों को भी [illegible] से निकालने वाले, जैसे कि [illegible] [illegible] अर्थ निकाले हैं, इसी के [illegible] के [illegible], और जैसे [illegible] [illegible] लिखे जाते हैं और जिनके [illegible] [illegible] [illegible]

ईसाई आदि मतानुसारी जैनाओं के भी जैना, उनमें भी सद्-सम्भव पूज्य हुये, अपने गुरूपदिष्ट मत के फैलाने वाले और सारे वर्षीय जैन सम्प्रदाय की निन्दा को मिटाने वाले ब्रह्मचारी श्री विजयानन्द जी विजय प्राप्त करें ॥१४॥

अथ पञ्चदशार्थः

मलमलदलनो मोगामोगानुगामी जीयात—

मः—चन्द्रः, लः कला, म इत्यर्थकः शब्दः, लः—अमृतम् । "मः यमे, शिरसि, दिवि, चन्द्रे" इत्यभिधानराजेन्द्रः । शब्दकल्पद्रुमे—

"लम्बन्तः पूतना पृथ्वी माधवः मकराध्वजः ।
बलानुजः शिवाङ्गीशो व्यापको मांसमंज्ञकः ॥
मही नारीश्वरो देवो लवणं वारुणीपतिः ।
शिम्बा वाणी क्रिया माता मालिनी कामिनी प्रिया
ज्वालिनी वंशिनी नादः प्रद्युम्नः शालदा ...
शिवाग्निमन्त्री वली चैत्री मेरुगिरिः इला ॥"

म इत्यर्थे इति मेदिनी, तथा च ... महाराजःदे... दासः, चतुर्थपरिच्छेदः ४३—

"ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचिताऽपानभूमयः।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः॥"

तदेवं खस्य—इन्दोः लः—कला व—इव लस्य—अमृतस्य दलनो—विशरणः—वर्षण इत्यर्थः। "दल् विशरणे" इति भौवादिकान्नन्द्यादिलक्षणो ल्युप्रत्ययः। यथेन्द्रो कलाऽमृतं जगति सिञ्चति, तथैवार्हन्मतरूपाकाशादिन्दुकलावदयमपि ज्ञानोपदेशामृतवर्षां करोतीति भावः॥

गोगाभोगानुगामी—योऽयं गाभः, गः—गन्धर्व इव आभा शोभा यस्य सः—गाभः, गन्धर्वो देवानामुत्तमजातीयो देवः। अथवा गः—गणेशः—विघ्ननिवारकः, तस्य गणेशस्य—आभा—इवाभा यस्य स गाभ इति भिन्नमेव विशेषणम्। पुनश्च गानुगामी, गः—सर्वगः (सर्वेषु गतः) कर्म, तत् गम् (कर्म) अनुगच्छतीत्येवं शीलं यस्येति गोगाभोगानुगामी कर्मानुगामी (कर्मवादी)। अतश्च दायादयात्रीत्यादीनि विशेषणानि सन्नियोज्य, जीयादित्यनेनान्वयो विधेयः॥

भावार्थ— चन्द्रमा की कला के सदृश शीतल तथा आनन्दप्रद पान कराने वाले धर्म की वर्षा करने वाले, और गन्धर्व की तरह धर्म में ही रागको फैलाने वाले, [illegible] के ही [illegible] करने वाले, धर्म के ही विघ्नों को खोलने वाले, [illegible]

पर विजय पाने वाले, मन को भी जीतने वाले, धर्म वेत्ता विद्वानों में भी प्रतिष्ठित, अपने कुल मर्यादा को प्रतिष्ठित रखने वाले, चंचल लीलाओं से दूर रहने वाले, देशविशेष से निवासादि की चिन्ता को छोड़ने वाले तेजस्वी विजयानन्द सूरीश्वर विजयी होवें ॥१४॥

अथ पंचदशार्थ

दायादयात्री भोगाभोगानुगामी जीयात्—

द:—कीर्तिः, आयः—आगमः, आ—अभिमुख्यार्थे, द:—पालनम्, यात्रा—आगमनम्। तथा च विश्वशम्भुमुनिः—

"दो दान पूजने छेदे दानशौण्डे च पालने।
देवे दीप्तौ दयायां दामुंडे दीर्घिकायां ॥१॥
दयायां दमने दीने दन्दशूके च दः स्मृतः।
वेदे च बन्धने वांछे दाने दांत्रे वनादिने ॥२॥
विशालेऽपि कृतान्ते पालने पीयरे च
दावज्वालादिरे महाशा कुल दानहृत च दा ॥३॥
दातारोऽपि वेदे नितान्तंदर्शनीये च दा" ॥ इति।

इत्त्र दाय कीर्त्यं प्राप्तागमयात्राय आय आगम

यस्य (संसृतिमहोदधाविदति शेषः) असौ दायः। पुनश्च आ—अभिमुख्यं यथा स्यात्तथा दाय—चालनार्थमेव यात्रा—गमनम्—प्राणनम्—जीवनममिति यावत् यस्यासौ—आदयात्री, दायश्चासौऽऽदयात्रीति दायादयात्री। स्वोपदिष्टशिष्यसमुदायस्य स्वाभिमुख्येन चालनार्थं विहारवानित्यर्थः ॥

योगाभोगानुगामी—योऽयम् अगस्य कुटिलगतेः अभोगमनुपयोगम् अनुगच्छतीति शीलवान्। "अग वक्रगतौ" इति कविकल्पद्रुमः, अव्याजगतिमानित्यर्थः। अतएव खलबलदलन इतिपूर्वोक्तार्थविशेषणमप्यस्मिन् जाघटीति। ततश्चान्यान्यपि विशेषणानि यथापूर्वं योजनीयानि, ततश्च जीयादित्यनेनान्वयः, इत्यलम् ॥

भावार्थ—जैन मत की विशेष शान्ति (रोशनी) के प्रचार के लिये ही उत्पन्न हुए हुए, तथा अपने शिष्य समुदाय में भी पैरों से ही यात्रा करने की मर्यादा स्थिर रखने के लिये पैदल ही यात्रा करने वाले, तथा कुटिल गति (धोखा आदि) का व्यवहार न करने वाले, और खल (धोखा बाजों) के कुचक्र को समझ कर उनके मद को दलने वाले, पाँच की [illegible] से उनको स्वयं [illegible] करने वाले तथा उन धोखा देने वालों को अपने शरीर के [illegible] से हुई हुई [illegible] की [illegible] द्वारा [illegible]

इस प्रकार द्विजों को कुटिल गति से बचाने के लिये ही जन्म ले हुये, तथा उनको विद्या में लगाने के रङ्ग में रङ्गे हुये निर्विकार तेजस्वी ब्रह्मचारी श्री विजयानन्द सूरि जी विजय प्राप्त करें॥१॥

अथ मतदर्शार्थ

जितजेता योगाभोगानुगामी जीयात्—

जेतृजेता, जयन्तीति—जेतॄणि इन्द्रियाणि, "इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभम्मनः" इत्युक्तेर्मनसि हृते सर्वेऽनर्थाः सम्भवन्ति, इन्द्रियाणि शरीरमपि घ्नन्ति। यथोक्तम्—

"कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गमीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥"

तेषामिन्द्रियाणामपि जेता—जयनशील इति भावः। ततश्च मलरमस्त्वनः, गानि—इन्द्रियाणि, "गः सर्पे, सूर्ये, पक्षशालि, इन्द्रिये, पूर्ये" इत्यादिअभिधानराजेन्द्रः। तेषां गानां सः—इन्द्रः स्वामी राजा यस्मिन् सता मनः, तस्य मनसोऽपि (मनसः) पतं दमयतीति अभिप्रायं मलरमस्त्वनः। अतो योगाभोगानुगामी । योऽन्तःकरणशुद्धिरूपम् वैराग्यम्, तस्य मानस्य ... स्य—आ—समन्तात् (सर्वथा) भोगः पालनम् ...

रक्तः—रक्तयो गुञ्जाः, तासां रक्तत्वं सर्वत्र जगति प्रसिद्धमेव, अतो रक्तिभ्योऽप्यधिकरक्त इति रक्तिरक्तः।

श्रूयते किल कदाचित्पुरा दुर्भिक्षसमये स्वसम्बन्धिना-माश्रयस्यादानात् रक्तीनां मुखे कालिमा समुत्पन्नः। भवतु येन केनाऽपि कारणेन कालुष्यलगनात् रक्तीनां रक्तत्वे त्रुटिरस्त्येव, परमस्य रक्तत्वे त्रुटिर्नास्ति, अतो रक्तिभ्योऽपि रक्त इति कथनात् सर्वथा रक्त इत्यर्थः। इदं वचनं लोकोक्तिपरं। लोके यथा यः कश्चित् कदाचित्कथञ्चिद्धर्मसङ्कटे पतितोऽपि शुद्धनिश्चयेन ततो निष्कलङ्को निस्सरति, तदा तं लोकभाषया (लाल का लाल रहा) इत्यभिदधति लोकाः, (धर्मसङ्कटपरीक्षायाम्) सुतरां परिशुद्ध इति भावः।

गोगाभोगानुगामी, यः—गाभोग इति छेदः। गाः सर्वाः सिद्धयो, गकारकोषानुगतोऽयमर्थः। तेषां गानां (सर्वसिद्धीनाम्) आ—मर्यादया भोगः—उपयोगो गाभोगः, तं गाभोगम् अनु—सादृश्येन गच्छतीतिशील इति गाभोगानुगामी, सर्वसिद्धीनां यथास्थानं प्रयोगकर्त्तेत्यर्थः। यथा—

अत्रैव पट्यालये मन्दिरप्रतिष्ठाऽभवत् जैनबन्धूनां यद्यप्यन्यत्रापि जिनबिम्बस्थानात् गुम्फैतनैर्जितिकल्पतरु-क्रुपायाम् मानवसमाजानां सन्ताप्यऽभवत्, तथापि श्री संघेन स्वकुलानिधुलात जिनबिम्बानयनसामग्री सज्जीकृता, धर्म-

र्गी गानुगामी । ननश्चैतगएयपि विशेषणानि यथास्थानं नियोज्य, जीयादित्यनेनान्वयः ॥

भावार्थ—दिशाओं और विदिशाओं में मुक्ति के आनन्द को देने वाले, जैन धर्म की शिक्षा को फैलाने वाले, क्योंकि पर्वत की तरह अटल निश्चय रखने वाले, अतएव धर्म शास्त्रों के बताये हुये मार्ग से एक रत्तीमात्र भी न टलने वाले, तथा द्विजों की भी ऐसी अटल शिक्षा से सेवा के लिये जन्म पाये हुये, मोक्षमार्ग की विद्या के रंग में अच्छी तरह रंगे हुये, तथा मोक्षमार्ग में आने वाली बाधाओं पर विजय पाने वाले, अनेक जीवन गुत्थियों में भी स्थिर रहे हुए, अपने कुल परम्परा वालों को भी मुक्ति दिखाने वाले, सबों के मनको हरने वाले, विचित्र लीलाओं को सजाने वाले, मुनिदेव की विद्या को सिखाने वाले ब्रह्मचर्यस्थ श्री विजयानन्द सूरि जी विजय प्राप्त करें ॥१८॥

अथार्थनिर्णयार्थं

शास्त्रार्थशतज्ञो योगाभोगानुगामी जीयात्—

शास्त्रा, संशयज्ञः, इति विशेषणद्वयम् । शा— दीर्घत्वं याति—प्राप्नोत्यसौ शास्त्रः । शास्त्रपदस्य "शो तनूकरणे" इत्यतः कर्मणि क्विप्, "आदेच उपदेशे ऽशिति" इत्यात्वम् । "शु हिंसायाम्" इत्यस्मात् भाव पर, शस्त्रं त्वरः "शास्त्रं दीर्घत्वम्" इति कविकल्पद्रुम । इति

रक्तः—रक्तयो गुञ्जाः, तासां रक्तत्वं सर्वत्र जगति प्रसिद्धमेव, अतो रक्तिभ्योऽप्यधिकरक्त इति रक्तिरक्तः। श्रूयते किल कदाचित्पुरा दुर्भिक्षसमये स्वसम्बन्धिनामाश्रयस्यादानात् रक्तीनां मुखे कालिमा समुत्पन्नः। भवतु येन केनाऽपि कारणेन काळुष्यलगनात् रक्तीनां रक्तत्वे त्रुटिरस्त्येव, परमस्य रक्तत्वे त्रुटिर्नास्ति, अतो रक्तिभ्योऽपि रक्त इति कथनात् सर्वथा रक्त इत्यर्थः। इदं वचनं लोकोक्तिपरं। लोके यथा यः कश्चित् कदाचित्कथञ्चिद्धर्मसङ्कटे पतितोऽपि सुदृढनिश्चयेन ततो निष्कलङ्को निस्सरति, तदा तं लोकभाषया (लाल का लाल रहा) इत्यभिदधति लोकाः, (धर्मसङ्कटपरीक्षायाम्) सुतरां परिशुद्ध इति भावः।

योगाभोगानुगामी, यः—गाभोग इति छेदः। गाः सर्वाः सिद्धयो, गकारकोषानुगतोऽयमर्थः। तेषां गानां (सर्वसिद्धीनाम्) आ—मर्यादया भोगः—उपयोगो गाभोगः, तं गाभोगम् अनु—सादृश्येन गच्छतीतिशील इति गाभोगानुगामी, सर्वसिद्धीनां यथास्थानं प्रयोगकर्त्तेत्यर्थः। यथा—

अत्रैव अम्बालये मन्दिरप्रतिष्ठाऽवसरे जैनमन्त्राणां यद्यप्यन्यत्रापि विशेषोपलब्धत्वात् यथोक्तनैवेद्यादिरूप-कृत्यानाम् मानवकमागमे मन्त्राणामभवन्, तथापि श्री संघेन चतुरमनुभाव विशेषभोजनसामग्री संगृहीता, एवं-

प्रमत्तोन्मत्तवद्विचरं प्रजागणं पश्यतः त्रिपुरिनोरस्थितिरभूत्।
ततश्चार्त्तोद्विग्नचित्तास्ते महात्मनः सकाशं गत्वा प्रोचुः—
“महाराज ! महत्येव क्षतिरस्माकं जनिष्यते चेत्सर्वां
भोजनं पर्य्याप्ततया देयं न स्यात्, नैव चैतत्सम्भवति
यदेकस्मिन्नहन्येवैतावन्त्यगणितं भोजनं सज्जीक्रियेत।
यदि येन केनाप्युपायेन मिष्टान्नेन पूर्तिर्भवेत्तदा कचौरी-
पुरिकादीनां प्रबन्धं विधातुन्तु वयं कथञ्चिदपि पारये-
ति'' तत् श्रुत्वा महात्मनोक्तम्—यत्स्थाने यावत्परिमित-
यां भूमौ न्यस्तं मिष्टान्नमस्ति, तत्संस्थानमेव एकं वस्त्रं
श्वेतं नवीनं समानयत, तैस्तथैव कृतम्। ततस्तु कस्मिन्
सर्वं स्थितं प्राप्तिकरणं तन्त्र निधाय भोज्यमिष्टान्न-
पात्रं संस्थाप्य शाटिकेनैव महात्मनैव, उक्तञ्च यावत्
समाप्यतामभिर्नैतदुद्घाटनीयम्, एकान्ततः निवृत्तायं वस्त्र-
मुत्थाप्य हस्तेनाकृष्यैवैतस्मात्पात्रमध्यात् पूर्णपात्रेण परि-
वेषयितृणा दातव्यमिति, तथाकृते तेषां मनसा हितान्येव
पात्रीकरणपूर्वं एव भोजयितुकामानां भोज्य समाप्तिं नेता-
र्ष्यन्ते धावकाः। ततश्च सर्वस्मिन् दिने सर्वस्मिन्
[illegible] भोजनमदायि, तथापि न समाप्तं भोज्य
द्रव्यम्। [illegible]
[illegible]
[illegible]

दृग्गोचरतां गता नान्यत् किमपि। वृत्तमेतद् दृष्ट्वा तत्सामयिकाः सर्वेऽपि श्रावका अतीव श्रद्दधिरे तत्रेति नाज्ञातरूपं तत्कालिकानां भावुकानां। अतोऽनुमीयते सर्वासामणिमादिसिद्धीनामुपयोगोऽप्यस्यासीत्। अतएव गाभोगानुगामी तिविशेषणं युक्तरूपम्, योऽयं गाभोगानुगामी स जीयादित्यनेनान्वयः। ततस्त्वान्यानि विशेषणान्यपि यथायथं संयोजनीयानि॥

भावार्थ—किसी धर्म संकट में पड़कर भी दुर्बलता का आश्रय न लेकर, अपनी परीक्षा में पूरे उतर कर सभी सिद्धियों को प्राप्त करके, उनकी मर्यादा के अंदर रह कर अपने सदा ही जीवन में व्यवहार करते हुए, उन सिद्धियों का समय समय पर प्रयोग करने वाले, और शिष्यों की भी सिद्धियों से यथावसर सेवा करने के लिये लाये हुए ऐसी विद्या के पूर्ण भाव से भरे हुए, दिग्विजयी स्थिर रहने वाले, अपने साधकों के भी आतुर-भावों पर धैर्य से विजय पाने वाले, धैर्यमूर्ति बड़े बड़े धीरों से प्रशंसा किये हुए, अपने कृपालों का भी धैर्य बढ़ाते रहने वाले, आशीर्वादादि वचनों से सब को सुनने वाले, विचित्र चरित्र वाले, अपनी और अपने आश्रितों की रक्षा रखने वाले, जिस स्थान पर आप रहते हैं वहाँ के रहने वालों की भी चिन्ता को दूर करने वाले, श्रीमान् जिनदत्त सूरि जी [illegible] सदा जयवन्त हों ॥२८॥

नोट:—यहाँ शहर अम्बाला में भी जैन मंदिर की प्रतिष्ठा के समय पर यथारीति अन्यान्य नगरों के भाइयों को आमंत्रण-पत्र भेजे गये और यह अनुमान किया गया कि अन्यत्र भी किसी उत्सवादिक के कारण यहाँ बहुत थोड़े भाइयों के आने की आशा है, सो श्री संघ ने अपने अनुमान प्रमाण से विशेषतर भोजनादि सामग्री का प्रबंध किया, किन्तु उत्सव के दिन अनुमानित संख्या से तीन चार गुणे अधिक आदमियों की भीड़ होगई, जिनका प्रबंध इतनी जल्दी होना असम्भव सा प्रतीत होने लगा। यह देखकर प्रबंधकर्ता समुदाय ने आचार्य महाराज श्री विजयानंद सूरिजी से निवेदन किया और महाराज साहिब ने उत्तर में कहा कि जितनी जगह में तुम्हारा भोजन का सामान पड़ा हुआ है उस सारे को एक वस्त्र लाकर उस पर [illegible] ढक डालो, वैसा ही किया जाने पर, महाराज ने वास क्षेप (वासचूर्ण) उस पर डाला, और [illegible] कहा कि [illegible] [illegible]

[illegible]

ज्योंही झपटकर वह चादर उठाई, तो उसके नीचे से दस-बीस भूरी चींटियें फिरने के सिवाय और कुछ नजर नहीं आया। इस उपरोक्त अर्थ में इसी घटना का दृश्य दिखाया गया है॥

अथ विशेषार्थः

द्विजभजनजनिर्योगाभोगानुगामी जीयात्—

अत्र द्विज—भजन—जनिरिति छेदः, द्विजाः शूद्रातिरिक्ता वर्णाः, भः—ज्ञानम्, जननं जनः—उत्पादनम्, अन्तर्भावितण्यर्थस्य सांचादण्णिजन्तस्यापि वा प्रयोगोऽयम्बोध्यः, तस्यैवाभीष्टत्वात्। ततश्च जनिर्जन्म, भस्य जनः प्रादुर्भावो भजनः,घञर्थे कः। भजनाय जनिर्यस्यासौ भजनजनिः,द्विजानां भजनजनिरिति द्विजभजनजनिः। यद्वा द्विजेषु भजनाय जनिर्यस्याऽसौ द्विजभजनजनिरिति समुदितस्यैव समासो विधेयः। द्विजेषु—अज्ञानग्रस्तेषु ज्ञानप्रचारार्थमेव जात इत्यर्थः। "भो भाति,कर्षा,शोनिपि,ज्ञाने च" इति शब्दार्थचिन्तामणिः, अभिधानराजेन्द्रश्च। यद्वा द्विजानां भावार्थमेव जात इत्यर्थ एव बोध्यो, यतः स्वधर्मनिष्ठस्यैव जनस्य सर्वत्रैवाभ्युदय नापि शोभा कल्याणं वा सर्वमाङ्गल्यमेव, सर्वगुणी न गुणवान् शोभन एव तदर्थं ज्ञानार्थमेव यात्रा योगाभोगानुगामी। योगो चित्तवृत्तिनिरोधः, न च नोपमनुजितः उक्तः। तेषां चित्तवृत्तिनिरोधे सुका-

गाम् आ—आभिमुख्य एव स्वभावादेव भोगः कौटिल्यम् वक्रगतिर्यस्यासौ भोगः, तं योगाभोगम् अनु—हीनम् तुच्छं मत्वा—अविगणय्येति यावद् गच्छति [नगगन्नगम् तेषां सुधारणार्थमेव गच्छति] इति शीलवान् योगाभोगानुगामी। (ननु) यथा सत्सङ्गतिः सत्फलप्रदा, तथैव दुष्टसङ्गतिरपि दुष्फलरूपा भवत्येव। अतो यदि महात्मनां सङ्गात् विश्वघातिनां नीचत्वमपसरेदिति सम्भावना स्यादपि, तर्हि महात्मस्वपि दुष्टसङ्गतेः फलम् दुर्वारमेव स्यादिति न च वाच्यम्, यतः पूर्वमेवैषा शङ्का महर्षिभिर्निरस्ता। तदुक्तम्—

> "सत्सङ्गाद्भवति हि साधुता खलानाम् ।
> साधूनां नहि खलसङ्गतः खलत्वम् ॥
> आमोदं कुसुमभवं मृदेव धत्ते ।
> मृद्गन्धं नहि कुसुमानि धारयन्ति ॥" इति

अतएव च खलजनदलन इत्यादिप्रथमाध्याय[illegible] विशेषणानि सङ्गन्तुमर्हन्ति। तानि च यथाक्रममन्वीय [illegible] यादित्यनेनान्वयः ॥

भावार्थ—हिंसों में ज्ञान का प्रकाश [illegible]
[illegible]

उपदेशों से अपना रङ्ग चढ़ाने वाले, विश्वासघातियों को दिगन्तों तक जीतने वाले, अन्त में उन्हीं सुधरे हुए दम्भियों से पूजे हुए, ऐसे खलों के बल को दलने वाले, विचित्र चंचल (विकट) चरित्र वाले दुर्जनों से अपनी लज्जा बचाने वाले, "ऐसे दुर्जनों के मैदान में हमारा काम न हो सकेगा" ऐसी चिन्ता को पास तक न आने देने वाले ब्रह्मचर्य से तीव्र तेजस्वी श्री विजयानन्द जी विजय को प्राप्त करें ॥२०॥

अथैकविंशोऽर्थः

योगाभोगानुगामी द्विजभजनजनिः शारदारक्तिरक्तो जीयात्—

यः—अगाभः—गानुगामी इति छेदः। योऽयमिति निर्दिष्टः, अगो वृक्षः, "अगः स्यान्नगवत्तरौ" इति लिङ्गोक्तत्वात्। अगेन—आभा—उपमा यस्यासौ अगाभः—वृक्षसदृशः। न चापि कल्पवृक्षस्तस्मादृपेण सेवकजनकामनापूरकत्वात्। ततश्च गानुगामी, गः—पराग्रामणीति तु कोषे प्रदर्शितमेव, "गः गीतं सरस्वती विद्या भोगिनी नन्दनो धरा" इति शब्दकल्पद्रुमोक्तत्वात्। गं मार्गमनुक्रमेण गमनशीलः। अत्र वृक्षस्य गमनादेव—अगा इति भिन्ने, अथवा गमनशीलः। तत्कथं माहात्म्येन गमनीति विरोधाभासः प्रतीयते, एवं कल्पवृक्षत्वेन [illegible] योऽवधिष्ठते। [illegible]

एकाङ्गत्वेनोपमा । "आभा—उपमायाम् कान्त्याम्" इति शब्दार्थचिन्तामणिः । एवमेवापरत्रापि द्विजमज्जनजनितः द्विजः—द्वाभ्यामेव मातापितृभ्याम् जातो न तृतीयात् जागदित्यर्थः, अत्र तु निश्चितार्थतापरं, मज्जनजनितः, मत् भ्रान्तिम् (अनिश्चयम्) जनयतीति मज्जना, "मो भ्रान्तौ" इत्यभिधानगजेन्द्रः, मज्जना जनितस्यास्मौ मज्जनजनितः । द्वापि त्रिगधामासो भ्रान्तिजनकत्वादिनत्वात् । ननु देवो-ऽयं मनुष्यो वा इत्यादिरूपया भ्रान्त्या दोला लिप्यते, मज्जनाय (मग्नाङ्गजनाय) जात इत्यर्थतापि निर्दोषत्वम् । एवमेव शाब्दार्थविलक्षणः, शाय:—हिमवत्, तु हिमान-लिप्यतो याति स्वर्गमिति शब्दकल्पद्रुमः । शायं हिमा ददातीति शाब्दः, कर्णाय शिरः । अनन्तर गंगिनत्व:, गंगि:—गंगिना मात्रि भक्ष्येव, तथा तत्:, हिमवत्येव पूज्यत इत्यादि परिष्कृतिसिद्धान् त्रिगधामाम [illegible] नाभ्यन्. [illegible] इति धातुद्वयस्य [illegible] वार्येते । शातं यति—शायति वा, [illegible] गंगित्व इत्यनन्त शिवरा शिवरा [illegible] करोतिद्वीनो त्रिगधानामा [illegible] तत्र दर्शित [illegible] लिप्यते [illegible] इत्यनन्तरंजन ॥

योगाभोगः, तमनु—तत्परभावेन दृढनिश्चयत्वेन गच्छति जानाति प्राप्नोति चेत्येवंशीलो योगाभोगानुगामी। कस्मि-श्चित्केशाप्लिद्विपत्तिकाले मन्त्रप्रयोगकर्तेति भावः, वेताल!

इह अस्मालये पर्वकटा दुग्धकमलार्जन मह पुत्रकमातरं पारम्परिकविरोधनानाविमृष्टामृष्टि दुग्धादृष्टि—आदरः प्रवृत्तोऽभूत्। ततश्च गजद्वारे नियोगोऽपि प्रचलितोऽभवत्। मेरुकल्पाधितेनानेन महात्मना घटसंस्थानाख्य लिङ्ग एव घटो वालुकावेदिकायां संस्थाप्य तत्रागं जातवा मन्त्रोच्चे-पूर्वकं तथोपयोगिनाः। यावत्पर्यन्तमयङ्घटो शाम्भि मध्ये, तावद्ग्रस्थामिलित्यतः वायं इत्युक्त्वा तत्स्थानस्य मार्ग निपातितं, दिनत्रयानन्तरम् तस्मिन्कुम्भे घटे नीरं समुत्पन्नम्। ततस्तेऽप्यस्मिन्नागतम् नाम्नागतमित्युक्त्वा मध्य एव समाप्तिं ततः। तेन लिङ्गमाया तदुत्पत्तिगतोऽ-प्यद्भुतिन कार्येन, एवं यादृश्येन मुक्ताम्य एत देवं व्यवहारं स्थान्तर्लोपनं मन्त्रप्रयोगाद्भस्म स्वस्थापना-मत। तत एव लिङ्गस्याति कार्यसंभोगानुमानीति लिङ्ग-मेन। तदन्यान्यपि लिङ्गानि पश्चापर्वाणि तद्वा तं ता-दिन्पर्वनान्वयः ॥

[illegible]

प्रकार द्विजों की मन्त्र तन्त्रादि से सेवा करने के लिये उत्पन्न हुये मन्त्रविद्या के वेत्ता तथा मन्त्रवेत्ताओं के दिगन्त जेता, जीतने वालों को भी जीतने वाले, मन्त्र शास्त्रियों में भी प्रतिष्ठा पाये हुये, विचित्र लीला (धारण शक्ति) दिखाने वाले, और ऐसे पुरुषों से अपनी लज्जा को रखने वाले, किसी देश विशेष की चिंता को धारण न करने वाले अपूर्व तेजस्वी श्री विजयानन्द जी विजय प्राप्त करें ॥२३॥

(नोट) यह बात किसी अम्बाला निवासी मूर्तिपूजक समाज के वृद्ध पुरुष से छिपी हुई नहीं है कि एक समय अम्बाले में मूर्तिपूजक समाज की ढूंढ़ियों के साथ बड़ी घोर लड़ाई हुई, जिसमें ढूंढ़ियों को बहुत चोटें लगीं, और अदालत में अर्जी गये हो गये, महाराज साहिब के श्रावकों ने महाराज जी से कहा कि बड़ी सख्त सजा मिलने की सम्भावना है, कोई उपाय हो तो हम बच जावें, तब उन्होंने उनको एक खाली मटका (घड़ा) देकर कहा कि इस मटके को वस्त्र से ढक कर हमारे बताये हुये मन्त्र का जाप करो । तीन दिन में जब यह मटका पानी से भर जाय तब छोड़ देना, फिर तुमको कोई चिन्ता नहीं । उन लोगों ने वैसा ही किया । किन्तु जप करने में ध्यान कम था, और मटके में पानी आता हुआ देखने की लगन अधिक थी, अतएव उन्होंने घड़े में पानी आता आरम्भ हुआ, थोड़ा भाग [illegible] कर जप करना छोड़ दिया, जिसका फल यह हुआ कि [illegible] आरोपियों को सामान्य सजा मिली थी । [illegible] में इस [illegible] इशारा है ॥

अथ प्रयोगविशेषार्थः

द्विजसजनजनिर्जीयात्—

द्वौ जौ जकारौ येषामासम्‌ ते द्विजाः। यथा ग्रन्थस्य द्विरेफ—इति संज्ञा नाम्न्येव रेफद्वयमाश्रित्य प्रसिद्धिमिता, तथैवात्रापि जघन्यज इत्यस्मिन्नामपदेऽपि जकारद्वयसद्भावात् शूद्रा अपि द्विजा इत्यभिधीयन्ते। तेषां द्विजानां (शूद्राणामपि) सस्य सारस्य जनाय जननाय (उत्पादनाय) जनिर्यस्य स द्विजसजनजनिः। जननं जनः, (इति प्रागपि यत्रार्थे कविनानेन प्रदर्शितम्) सस्य सारस्य जनः—सजनः, सजनाय जनिर्सजनजनिः। सकारसारत्वन्तु यथा—

"पितृभ्रातृपितृव्येषु सोऽतिर्माने सयादृत।
सकारः पूर्वे जनके भ्रमर सारजन्मिनाः"॥

"सं नक्षत्रे सगो सारे" "नपुंसकं सं नकार स्मते पुष्पचन्द्रयाः" इत्येकाक्षरकोषः, अभिधानतन्त्रस्याहि। सारस्तावत् उपासनोपयोगिको मानसो धर्म इति गन्तव्यमतिः।

द्वादशैः द्विजशब्देन ब्राह्मणास्तिर्यग्‌जातयः

गच्छन्तो लज्जन्ते, यतः प्रथममेव तज्ज्ञातृगणेन तेषामकुलीनत्वं विख्यातं भवति स्म । तदुक्तं यथा—

"न जारजातस्य ललाटशृङ्गं कुलप्रसूतस्य न पाणिपद्मम् ।
यथा यथा मुञ्चति वाक्यबाणं तथा तथा तस्य कुलं प्रमाणम् ॥"

अतस्तैस्तस्य प्रत्यवतारिहेतुर्गान्धर्वविवाह इति भावः, इदं कुलमार्गो जीयादित्यन्वयः । शेषं यथापूर्वम् ॥

भावार्थ—द्विजों में भी कुलीनता और अकुलीनतावाले पुरुषों के विभाग के लिए ही जन्म धारण किये हुए, अर्थात् जिनके पिता के विषय में कुछ सन्देह हो ऐसे पुरुष उनके जानने का [illegible] नहीं सकते थे, और यदि जान भी लें तो उनकी [illegible] में उनकी अकुलीनता छिपी नहीं रह सकती थी इस प्रकार के [illegible] सभी प्रकार जानने वाले थे, इसी कारण उन पर भी विश्वास करने वाले, तथा अपने प्रदेश में उनके [illegible] होने वाली [illegible] (वर्णव्यवस्था) को दूर करने वाले [illegible], तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त [illegible] कहे गए।

अथ [illegible]

द्विजवल्लभजातिर्जीयात्—

हो ये देशभाषासु ते द्विजाः—[illegible]

अथ पद्यविगोऽर्थः

द्विजभजनजनिः—

द्विर्जायन्ते ते द्विजा अण्डजाः, प्रथमं मातुर्गर्भाज्जायन्तेऽण्डरूपेण, ततश्चापरथा शिशु (जीव) रूपेण जायन्ते, अत अण्डजा अपि द्विजा उच्यन्ते, "द्विजः स्याद् ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यदन्ताण्डजेषु ना" इत्यमरः। पूर्वोक्तार्थे 'जगत्पुत्राणां कल्याणाय जातः' इत्यभिधानादन्येषामप्राणिनां शिवेऽस्योपेक्षावृत्तिर्द्योतिता माभूदित्यभिप्रायेणात्यमरगोऽर्थोऽण्डजसृष्टिविषयको विवर्ण्यते। तेषां द्विजानामण्डजानाम् मध्य शिवस्य (कल्याणस्य) जननाय जनिर्जन्म यस्याः सा द्विजभजनजनिः, अण्डजसृष्टिरपि विविधैः प्रभेदैर्विभिद्यते। तथा च स्वेदजा सृष्टिरप्यण्डजैव भवति, यतस्तयापि पूर्वं लीक्षादिरूपाण्यण्डान्येव जायन्ते, अतः स्वेदजसृष्ट्याप्यण्डजसृष्टावेवान्तर्भावः। ततस्तेषां यूकालीक्षादीनामपि स्वार्थत्यागेन कल्याणभवनेन विग्रत एव । ततश्च यथापूर्वं विग्रहान्वयः॥

भावार्थ—द्विज शब्द से [illegible]

योगानुकूल जीवन बिताने वाले, पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द विजय प्राप्त करें ॥८६॥

अथ सप्तविंशोऽर्थः

द्विजभजनजनिर्जीयात्—

अथेदानीञ्जरायुजाण्डजस्वेदजेति त्रिविधाया एव सृष्टेः कल्याणकारित्वमस्मिन्दर्शयता चतुर्थ्या उद्भिज्जायाः सृष्टेर्विषये तूष्णीम्भावमुद्दिदर्शयिषितवेति न दोषराहित्यमत्राप्यवगम्यत इति न शङ्कयम्, अनेनैव पदेन तदर्थस्यापि भानात् ॥

तदित्थम्—सर्वोऽपि संवत्सरः कृषीवलैर्द्वयोरेव भागयोर्विभक्तः। एकस्य विभागस्य नाम "सावनी" इत्यभिधीयते, द्वितीयस्य च नाम "असाढ़ी" प्रकीर्त्यते। यद्वा दक्षिणोत्तरायणरूपेण भागद्वयमस्तीति। अनयोर्द्वयोर्भागयोर्जायन्त उद्भिद्यन्ते तेऽपि द्विजा वृक्षा लतागुल्मास्तृणादयोऽपि। तेषामपि भस्य कल्याणस्य जननाद् जनिर्येषां ते द्विजभजनजनिः। उद्भिज्जानामपि छेदनमर्दनभेदनादिकं न विधेयम् तेष्वपि जीवनसद्भावात्, हिंसायामिव तत्राप्यनिष्टजनकत्वात्, अहिंसात्मकधर्मपालनत्वात्—इत्याशयविशेषणैरनेनैव उद्भिज्जसृष्टेरप्युपकारित्वमनेन विशेषणेन सूच्यमानत्वस्य दर्शयन्ते, इत्यत्र न सन्देहलेशोऽपीति शम् ॥

भावार्थ—इस पूर्वोक्त वर्णन में केवल जरायुज अण्डज एवं स्वेदजसृष्टि का ही वर्णन हुआ, अब उद्भिज्ज सृष्टि का वर्णन भी इसी पद में किया जाता है, वर्षा ऋतु के दो मास अर्थात् श्रावण अथवा भादवों में उत्पन्न होने वाले वृक्ष लता गुल्म तृणादि और पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले एकेन्द्रिय जीवों के भी कल्याण के लिये उत्पन्न हुये हुये अर्थात् अङ्कुरित इन जीवों को भी नहीं तोड़ना और अन्यावस्थता में भी इस प्रकार उनसे काम लेना जिससे वे समूल नष्ट न हों इस प्रकार के उपदेश से उनकी भी रक्षा करने वाले, शेष विशेषण पूर्ववत् श्री विजयानन्द जी विजयी होवें ॥२४॥

अथाष्टादशगाथा

शास्त्राभिकरणी जीयात्—

स, अथ, शार्गिक, रक्त इति छेदः, यः पूर्वोक्तसर्वे द्विरदवनुभावना सर्वेषां कल्याणकारिणि प्रकटः, अथ स धर्मेण विना कार्याणि सम्पादयन्सर्वमाधारतामवगाहमानः निरवगाहपदः—स, शार्गिकरक्त अथ, शः शानवान्शा शानवेग इत्यर्थः, तेषाम् आ समन्तात्सर्वत्र रक्त इव तथा रक्तः परिमार्जित इत्यर्थः। शानवेगानां प्रभावोर्जित इत्यर्थः, एतदनुक्तः सन स अथ—अथवार्थे शः

आङ्पूर्वकस्य "ऋ गतौ" इत्यस्य लिटि रूपम्। स आर इत्यत्र "सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्" इत्यनेन सन्धिः, शसयोरैक्यात् स इति छेदः। यद्वा सारम् धनम् ददातीति सारदा धनदा श्रेष्ठिनस्तेषामारक्तया रक्तः—सारदारक्तिरक्तः, शसयोः सावर्ण्यात् शारदारक्तिरक्तः, "सारो चले स्थिरांशे च मज्जि पुंसि जले धने" इति मेदिनी। अथवा स अर दा रक्तिरक्तः—अरं शीघ्रं ददातीति अरदारक्तिरक्तः "लघु क्षिप्रमरन्द्रुतं" इत्यमरः। "सोऽचि-लोपे" इत्यनेनैव सन्धिः, अविवक्षयैव दानार्थकात् "डुदाञ् दाने" इतिधातोरकर्मकत्वम्। तदुक्तम्—

"धातोरर्थान्तरे वृत्ते धात्वर्थेनोपसंग्रहात्।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया॥"

यदैव यत्कार्यं सम्पादयितुमसौ मनागप्योष्ठौ सञ्चालयति, तदैव ते श्रेष्ठिनस्तत्क्षणमेव धनव्ययेन विधापयन्तीति हेतोः सर्वकल्याणकारित्वं तस्य उपपन्नमेव। एवम्भूतः स जीयादिति परेणान्वयः, ततत्न यथापूर्वम्॥

भावार्थ—महाराज रूपा थे, मानो एक बड़े भारी सभा कल्प-पालकों के शिरताज होकर चमके हों, शत्रुओं के योग को सुयोग करने वाले, अपने प्रभाव से शत्रुओं के छिप कर विहार करने वाले, तथा सारिदों से शीघ्र ही दान दिलवाकर

सदुपयोग में लगा देने वाले, गौशाला, अनाथालय, पाठशाला, मन्दिरादिकों के सम्पादन करने में तथा दीन दुःखियों की सहायता करने के लिये जरा दृष्टि दिखाने मात्र से यथेच्छ धन दिला देने वाले, तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द जी विजय प्राप्त करें ॥८८॥

अथैकोननवतितमं

दिग्जेता जीयात्—

दिशो जायन्ते यस्मात् स दिग्जः सूर्यो ध्रुवो वा, सूर्य-निःसरणादेव दिग्विभागज्ञानं जायते, यतो यस्यां दिशि पूर्वं सूर्यो दृश्यते, सैव पूर्वा दिगिति व्यवहारस्तथैव दक्षिणादीनामप्यवहारप्रयोगात् । यथा चापि ध्रुव उत्तरस्यां दिशि सोऽचलोऽवतिष्ठते, तत एतस्मात् दिशा ज्ञानदर्शनाद् ध्रुवोऽपि दिग्जः । अन्यच्च दिग्ज्ञानदर्शकः, "कुतुबनुमा" नामकयन्त्रविशेषः । तस्यापि ध्रुवमुखमेव निर्माणसद्भावात्स्वतन्त्रोऽपि ध्रु वमेव सूच्यं विनिद्दते, न चान्यत्र कुत्रचिदपि [illegible] "[illegible]—कुतुबनुमायाम" [illegible] तथा च दिग्ज इव [illegible] [illegible] दिग्जेता । दिग्जपुरंदरात "[illegible] दिग्जय" [illegible] जिता, "[illegible]" इति [illegible]

नात् क्विपः सर्वापहारान्नकारान्तोऽयं शब्दः । यथा सूर्यः स्वकिरणैः प्रकाशं ददाति, दुर्गन्धञ्चापि प्रशमयति, तथैवाऽयं महात्मा ज्ञानमुद्भासयति, दुर्वासनाश्च विदूरयतीति हेतोरियमस्याऽनुकम्पैव, न किमपि स्वार्थानुसरणम् । तत एव सूर्येण साम्यम् ॥

ध्रुवश्चापि सुमहतीं शिक्षां वितरति । यथा विचलत्यपि सर्वस्मिञ्ज्योतिश्चक्रे ध्रुवः स्वस्थान एव स्थितः, तथैव प्रवर्त्तमानेऽपि संसारचक्रे विद्वद्भिः सुमहद्भिर्वा न भ्रमितव्यम् प्रत्युत सुदृढतया स्वधर्म एव स्थातव्यमिति भावः । एतादृश्या शिक्षया ध्रुवोऽप्यनुकम्पते जगति, एवमेवायमपि महात्मा स्वधर्माश्रयणे तद्व्यवहारे चापि सुदृढैरेव स्थातव्यमित्याद्युपदेशशिक्षणेन सन्मार्गनियोगेन सुतरामनुकम्पत एव, एवमेवान्यान्यपि विशेषणानि यथायथं नियोज्य, जीयादित्यनेनान्वयः ॥

भावार्थ—सूर्य के समान ज्ञानरूपी प्रकाश देकर तथा अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करके संसार का उपकार करने वाले तथा ध्रुव के समान अपने धर्म तथा नियमों में सुदृढ़ रहने वाले, अपने गुणों [illegible] की भांति संसार चक्र को [illegible] और अपनी दृढ़ विश्वास से विचलित न होने वाले, तथा पूर्ण [illegible] सूर्य, श्री विजयानन्द सूरि जी विजय प्राप्त करें ॥२॥

अथ विशेषार्थः

जेतृजैना जीयात्—

जेतारः प्रचण्डदोर्दण्डेन भूमण्डले समस्ते निस्सा-
गतिनिरुद्धं स्वशासनेन नेतारः पराक्रमेण शासितार इत्य-
र्थः, तेषां जेतृणां जः विजयो निर्दयत्वेन परहिंसास्वरूपो
जेतृजः, तस्य जेतृजस्य—ज:—गतिः, उपगतगावित्वेन
प्रसरः प्रवाह इति यावत्, असौ जेतृजः, तं जेतृजयम् तरति
पारं गच्छति नाशयति वा जेतृजैना, विजयशालिनामपि नृपः,
हिंसास्वविषयजन्यादुराग्रहादिरोगस्य निवारयिता । यतो
हिंसाविरतेरेव विमर्शेनाः, तस्मान्निवारयिता तन्निवारयि-
तेत्यर्थः । अथवाऽहिंसोपदेशात् परस्परहननपूर्वविरोधं
निराकृत्यादिकेषां परजयस्पृहानुत्पादनागमनात्तेषां विजय-
इच्छाजन्यसकलपापाविरोधिहिंसादिकस्यानागमेन पारस्परिकमैत्र-
भावं प्रसार्य ततः परं मिथो हिंसनस्वाभाविकवैरानुरागं
निवारयिता, "अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" इत्युक्तत्वात् तेषामपि वैरं
नमनेन विरोधमुद्धृत्य मैत्रीप्रसारयिता, सर्वभूतेषु दयानैर्म-
ल्यप्रसारमार्गदर्शयितेति भावः ।

विशेषत्वात् "तृ प्लवनसन्तरणयोः" इत्यतः
"अन्येष्वपि दृश्यते" इति सूत्रेण कर्तरि डिवत्, टिलो-
पश्चात्र तृत, "हलिपरस्य विपरन्तोत्सर्ववादापवादेन" इति

वृत्तिकारः, तस्य फलन्तु क्वचिद्दीर्घः, क्वचित्सम्प्रसारणम् क्वचिद् द्वे क्वचिद्ध्रस्व इत्यादि प्रदर्शितं दीक्षितेन, तस्मादत्रापि दशिग्रहणसामर्थ्याद्ध्रस्वः। जेतृजेतृ—इत्याकारकस्य प्रथमाविभक्त्येकवचने रूपंजेतृजेतेति, पापात्मनां पापनिरतान् भावान् व्यत्यास्य पापं प्रति घृणोत्पादनेनाहिंसाव्रतधारणानुप्रवर्त्तनमेवास्य तरणन्तारणञ्चापि। इत्यलं विद्वत्सु विस्तारप्रस्तारेण। ततश्च यथापूर्वमवशिष्टविशेषणप्रयोगोत्तरम् जीयादित्यनेन सम्बन्ध ऊह्यः॥

भावार्थ—शस्त्र-युक्त शत्रुओं की हिंसा करके विजय प्राप्त करने वाले निर्दय पुरुषों पर भी अहिंसोपदेश द्वारा हिंसा से हटाकर उन्हें पार उतारने वाले, इसी सिलसिले में परस्पर विरोध को भी मिटा देने वाले, इसी प्रकार हारनेवालों के हृदय में हारने से उत्पन्न हुई वेदना और जीतने वालों के चित्त में जीतने के दर्प से उत्पन्न हुये अहङ्कार को सदुपदेशों से मिटाकर पिछले किये पर पश्चात्ताप और आगे के लिये निवृत्ति कराकर जैन धर्म की विजयपताका लहराने वाले तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द जी विजय प्राप्त करें ॥६०॥

अर्थैकचित्रोऽर्थः

जिष्णुजिह्वर्मतिनुतिगतिभिः पूजितो जायात्—

एर्गिति सम्बोधनार्थकः स्वरवर्णविशेषः । क्वचित्सम्बोधनार्थकशब्दानां परतोऽपि प्रयोगो लभ्यते । यथा— "राम हे त्वां भजाम्यहम्" तेन ए जिष्णुजिह्व ! जिष्णुरिन्द्रः "जिष्णुर्लेखर्षभः शक्रः" इत्यमरसिंहाभिधानात्, तम् जिन्तु जयति जिष्णुजित् कामः, "कामजित एव शक्रः स्वर्गातुना अपि त्वरया अहल्यां प्रपेदे" इति पुराणोक्तिश्रवणात्. जिष्णुपूर्वकात् "जि जये" इत्यस्मात् 'इन्' औणादिकः प्रत्ययः, बाहुलकादित्वम्, टित्वाट्टिलोपः । अथवा जि-धेर क्विपः, ह्रस्वग्रहणसामर्थ्यात् तुगभावः । तं जिष्णुजितं ह्वयते—असौ जिष्णुजिह्वः, "ह्वेञ् स्पर्धायाम् शब्दे च" इत्यस्मात्कर्मण्युपपदे—"आतोऽनुपसर्गे कः" इत्यनेन कः, तत्सम्बुद्धौ हे जिष्णुजिह्व कामाभिमन्त्रक इत्यर्थः । मतिः—मनुतेऽवगच्छति कालत्रयवर्तितत्त्वजातम् या सा मतिः केवलज्ञानाख्या, तस्या नुतयः स्तुतयः मतिनुतयः, तासां गतयो मार्गाः मतिनुतिगतयस्ताभिर्मतिनुतिगतिभिस्त्व जगतिता महान् जिनः सञ्जायात ॥

यद्वा मतिनुतिगतिभिः कारकनुतिभिः (मतिः ...) पूजितो महान्, यथा एव ... [illegible]

जायाःकारणम्, अत एताभिर्जुष्ट एव भवाञ्जीयात् जीव्यादित्यर्थो वाऽप्यूह्यः । शेषम्पूर्ववत् ॥

भावार्थ—हे इन्द्र के जेता कामदेव को भी नीचा दिखाने वाले, और केवल ज्ञानानुसारणी मति की स्तुति से युक्त अथवा इस प्रकार की मति तथा स्तुति और गति से पूरे हुये तथा पूर्ववत् विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द जी चिरकाल तक जीते रहें जिससे संसार का उपकार होता रहे ॥३१॥

अथ द्वात्रिंशोऽर्थः

दायादयात्री जीयात्—

दा—आ—अय—आद् या ईङ्—इति छेदः ! "निर्वाचवनिता च दा" इति विश्वदेवशम्भुमुनिः, अयनम् अयः—प्राप्तिः, "इण् गतौ" इत्यस्मात् घञर्थे 'एरच्' इत्यनेनाच्प्रत्ययः, "घञजपाः पुंसि" इत्यनेन पुंस्त्वम् । आदनम् आदः—भोजनम्, णिजन्तात् "अद् भक्षणे" इत्यादादिकात् भावे घञ् । यानं या—प्राप्तिः—गतिः—जीवननिर्वाह इति यावत्, "या प्रापणे" इत्यस्मात् भावे क्विप् । दानां निर्वाचस्त्रीणां च आ—समन्तात् आयः—प्राप्तिः—पूर्णं— [illegible] स्या दायः, तस्मिन् दाये गतिः या आदेन या अनाथस्त्रीणां (विधवादीनाम्) ।

शान्त रस से ही सदुपदेश द्वारा निन्दकों से निन्दा और पापत्मों से पापत्मों छुड़वाकर उनको सन्मार्ग में लगाने वाले श्री विजयानन्द विजयी होवें, शेष पूर्ववत् ॥६३॥

अथ चतुर्भिर्गोप्यं

लोलल्लीलस्थलज्जः—

अत्र ल, उ, ललौ, स्थलज्ज इति छेदः। रलयोरैक्यात्तस्य स्थाने रः, डलयोरैक्यात् ललौ—इत्यस्य स्थाने लडौ—इति बोध्यम्। पुनरपि रलयोरैक्यात् लस्थलज्ज इत्यस्य स्थाने रस्थरज्ज इति ज्ञेयम्। रलडौ—रस्थरज्ज इत्येतच्च पदद्वयं बोध्यम्। अस्यार्थः रः—(आराधनम्) भगवद्भजनम्, "रः गिरे, कामे, निधौ, रवौ, आराधने" इत्यभिधानराजेन्द्रः, उः निर्वाणः अहंकारो वा, "उः अनुकम्पायाम्, निर्वाणे, अहंकारे च" इत्यभिधानराजेन्द्रः, "लड विलासे" इति भ्वादिको धातुः पचाद्यच्। तदित्थं लडनं लडः—विलासः (आनन्दः), तदर्थं कः, रस्याराधनस्य—उः—निर्वाणः [आत्मनो कर्मजन्यदुःखानां ध्वंसनम्] अहंकारो वा रः, [भगवद्भजने प्रीतिः] तदहंकारो वा, निर्वाणम् येषां तं तदहंकारस्थानमहन्ते। तस्य रः—महो विलासः

[आनन्दः] रोलडः, सोऽस्यास्तीति रोलडी । रल-योर्डलयोश्चैक्यात् लोललीति जातः, आराधनाङ्गीकारस्य तन्नियोगस्य वा विलासवानित्यर्थः ॥

लस्वलज्जः(रस्वरज्जः) रः कामः, तेन कामेन स्व-रन्तः—उपतप्ताः कामिनो रस्वरन्तः, "स्वृ शब्दोपतापयोः" इति भौवादिकाच्छतृप्रत्ययान्तप्रयोगः । तेषां रस्वरतां जा—देववाहिनी (गङ्गा) यत्रासौ रस्वरज्जः, रेफस्थाने लादेशाल्लस्वलज्ज इति सम्पन्नः । यथोपतापवतां दाहप्रशमनाय गङ्गा प्रवहति, एवमेव कामोत्तापितानामपि तापप्रशमनायास्योपदेशवचांसि गङ्गायन्ते स्म इति तात्पर्यार्थः । शेषम्पूर्ववत् ॥

भावार्थ—अपने इष्टदेव के आराधन को अङ्गीकार करने वाले तथा अपने अनुयायियों को अपने इष्टदेव के आराधन में लगा देने से आनन्द लूटने वाले, तथा कामीजनों के काम सन्ताप से सन्तप्त हृदयों में शान्ति पहुँचाने के लिये श्री गङ्गा जी की तरह शीतलता का सञ्चार करने वाले, उनको भी योगमार्ग के अनुकूल चलाने वाले, गण पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री जिनदत्त-सूरि जी विजय प्राप्त करें ॥२७॥

अथ पञ्चविंशोऽर्थः

केदारगौदाख्यदारी—

"कम्—मनः" इति शब्दार्थचिन्तामणिरभिधानरा-जेन्द्रश्चापि, "श्रोः स्मरणे" इत्यभिधानराजेन्द्रः। अतः स्मरणम् ददातीति—श्रोदाः, श्रोपूर्वकात् "डुदाञ् दाने" इत्यस्मात्क्विप्, दारणाम् स्त्रीणाम् श्रोदाः— दारौदाः, के मनसि दारौदाः केदारौदाः, "अपृथग्भूता-न्माद्गादकार्म"इत्यनेन सप्तम्या अलुक्, स्यदो वेगः, "रंहस्तरसी तु रयः स्यदः" इत्यमरः। तस्मात्केदारौदः स्यदे-न इयर्ति—धावतीत्येवंशीलो केदारौदाख्यदारी, मनस-ि योषित्स्मरणप्रदाख्यानकाद्रं धावतीति भावः॥

कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे पूर्णापि शास्त्रात्-वचनप्रामाण्यात्, न खलु कामोत्पत्तिदोषभयात्। तत्र तु विषयासक्तिः पुरैव वर्णिता इति तत्त्वार्थः॥

भावार्थ—पापों का नाम या स्मरण करना भी बुराई के लिये पर्याप्त (काफी) होता है, इसी से यहाँ चित्त से स्मरण स्त्रियों का कामोत्पादक वृत्तान्त भी दूर रहा, उनके स्मरणमात्र से भी चित्त को दूर भगाने वाले, तथा इसी प्रकार के आवेग से भगाने स्त्रियों की भी काम वेग से बचाने वाले, इस कारण पूर्ण ब्रह्मचर्य में दृढ़ प्रमाण थे, जैसा मार्कण्डेय

आचरण से उर्ध्व रेता बने हुये, तथा अन्यान्य पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द सूरि विजयी होवें ॥३५॥

अथ षट्त्रिंशोऽर्थः

विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्तः—

विमला नाम काचिद्देव्युत्कलदेशे । तदुक्तं यथा—

"उत्कले नाभिदेशस्तु विरजाक्षेत्रमुच्यते ।
विमलाऽत्र महादेवी जगन्नाथस्तु भैरवः" ॥इति॥

तस्या विमलाया यन्मधु मद्यम् (भोगव्याजेना-हृतम्) तद्विमलमधु, तस्य विमलमधुनो मदः—मत्तता विमलमधुमदः, तेन विमलमधुमदेन—उद्दामानि—उच्छृ-ङ्खलानि धामानि—शरीराणि येषान्ते विमलमधुमदोद्दाम-धामानः, "उद्दाम बन्धे अप्रतिबन्धे स्वतन्त्रे च" इति शब्दार्थचिन्तामणिः । "धाम देहे, गृहे च" इत्यादिरपि शब्दार्थचिन्तामणिरेव । तान् विमलमधुमदोद्दामधाम्नः [illegible] [illegible] [illegible] विमलमधु-मदोद्दामधामप्रमत्त, तस्य [illegible] [illegible] [illegible] विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्तः, वाममार्गिभिः सह शास्त्रार्थ-[illegible] तेषां [illegible] [illegible]

निराकर्त्तेति भावः ॥

भावार्थ—वाममार्ग में मद्य मांसादि द्वारा भगवती का पूजन करने वाले और भगवती का भोग समझ कर या कहकर मद्यमांस के सेवन से अपने शरीर पर भी काबू न रखने वाले वाममार्गियों को शास्त्रार्थ तथा वादविवाद में पराजित करके सुधारने वाले, इसी वास्ते जीतने वालों के भी जीतने वाले, तथा सबसे भी पूजे हुये श्री विजयानन्द जी विजय प्राप्त करें। शेष विशेषण पूर्ववत् ॥३६॥

अथ मन्त्रविग्रहार्थः

अथाधुना पुनरपि विलोमवर्णैर् गम्यते—

विमलमधुमदोद्दामधामप्रमथा जीयात्—

मधु पुष्परसो माक्षिकम्, विमलं निर्मलम् (स्वच्छम्) तन्मधु—इति विमलमधु, तस्य विमलमधुनो मदेन—हर्षेण उद्दामानि—अप्रतिबद्धानि विस्तृतानि धामानि तेजांसि येषान्ते विमलमधुमदोद्दामधामानः, अथवा स्वच्छन्द कुसुमरसादपि [illegible] शौचेन निर्मलेन च [illegible] कर्माणि [illegible] निर्वासिता, [illegible] पूर्व [illegible] नासन् [illegible] पुनस्तां, [illegible] [illegible] च निराद [illegible] [illegible]

समागतोऽयमृतुराजः शत्रुमस्मदीयं [illegible]
ष्यति, विपुलमधु चास्मत्कृते [illegible]
कान्मधुप्राप्तिमूलकान्मदाद् (इत्यत्र) [illegible]
(मधुमक्षिकाः) जायन्ते, तान् मधुकरान् [illegible]
[मधुलोभेन तद्गृह्णाना मक्षिका [illegible]
विमलमधुमदोद्दामधामप्रमथः, तान् [illegible]
धामप्रमथः कर्मभूतान् तर्जयति [illegible]
द्दामधामप्रमत्तः । विमलेत्यादि [illegible]
भर्त्सने" इत्यस्माद्धातोः "अन्येष्वपि [illegible]
डः प्रत्ययः, डित्वाट्टिलोपः । मधुकरादि [illegible]
शैरेव बोधयित्वा तदात्मभिरेव तान् [illegible]
शेषं यथापूर्वम्, जीयादित्यनेन [illegible]

भावार्थ—वसन्तादि शुभ ऋतुओं [illegible]
में हर्षपूर्वक रस चूस कर [illegible]
(शहद) रूपी सम्पत्ति लिए हुए [illegible]
को लूटने वाले डाकुओं की तरह [illegible]
मारने वालों को शान्त रस से ही [illegible]
इस मार्ग में [illegible]
[illegible] द्वारा दूर करने वाले, [illegible]
विजयानन्द सूरि चिरञ्जीव रहें।

अथाष्टविंशोऽर्थः

केदारगौडाख्यदारौ जीयादिति—

अथ क—द—अदार—औडाख्यदारौति छेदः। कः—कामः, "कः—अग्नि, चित्तौ, काने, अन्तौ, वायौ, यमे इत्यादिषु" इत्यभिधानगजेन्द्रः। "दः कलनायाम्, ध्वनायाम्, धर्माभिमुखे, पवने, ज्ञाने, गर्तौ" इति चाभिधानगजेन्द्र एव। तदित्थं न सन्ति दागः चित्तं येषान्ते दागस्तेषामदागानां पर्वतास्तेन उदासीनता [भ-न्यान् मदागन दृष्ट्वा तस्मात्तेन कालक्षेपेन यापि तदभाव-विमनस्कता] तद्—अदारगौडाख्यम्, कस्य—कामस्य तेन ज्ञानेन [कोऽसौ कामः, कीदृक् चास्य स्वरूपः, किञ्च तस्य फलम्, कथञ्च तदुत्पत्त्यम्, कथञ्चास्यन्तात् तिरयन्ते, विनाश्यापि च किंफलम् भवति, किञ्च तत्ता-त्पर्यं कथ कथञ्च भवति तत्फल इत्यादिविचारसंवलेन] अदारगौडाख्यं इत्यादि विदूरयति [निराकरोतीति यावत्] इत्येवं शीलं यस्याः केदारगौडाख्यदारौ। पूर्वम् "काम पु-रुः" इत्यनेन के गच्छन्, तदन्तु "द्वः प्रावरणादि" इत्यनेनाच्छादनस्य पूर्वपत्नम्, अदागाख्यारविन्दपदार-विन्दौ तारमाः मानस एव, मानसाः धर्मतन्तर्वाक् दे मन्वन्ति, देवादविनर्दादिता कार्यं शुभानुगाद

तद्व्यानमेव निराक्रियत इति भावः। तादृशो जीयादिति। अवशिष्टं यथापूर्वम्॥

भावार्थ—संसार में स्त्रियों से खाली रहे हुये कुंवारे तथा रण्डे विधुर एवं ब्रह्मचारी तथा तपस्वियों के चित्त में कदाचित् स्त्री के न होने से उत्पन्न हुई उदासीनता को (काम देव क्या है कैसे उसका व्यवहार होता है, क्या उसका फल (नतीजा) होता है कैसे वह भोगना चाहिये, किस रीति से उससे बचा जाता है, बचने से क्या लाभ होता है, क्या सुख पहुँचता है, और वह सुख कहां से किस तरह मिल सकता है? इत्यादि) तत्वज्ञान द्वारा मिटाने वाले, अतएव विचित्र लीला वाले, कामदेव से अपनी तथा अपने भक्तों की प्रतिष्ठा बचाने वाले, योगमार्ग के पूर्ण ज्ञानी तथा पूर्व विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द जी विजय प्राप्त करें॥३८॥

अथैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

लोलल्लीलावलज्जो श्रीमान्—

लोला जिह्वा "लीला जिह्वायाम्, रसनायाम्, श्रियां, चञ्चलायाम्, मायाम्" इति शब्दार्थचिन्तामणिः, चाञ्चल्यात् जिह्वाऽपि लोला, सा द्विविधं तद् भवति, एकं वाग्रूपम् द्वितीयमास्वादरूपम्। तत्र वाग्रूपन्तु कदाचित् वर्णनिन्दाभाजनकमपि स्यात्, आस्वादरूपान्तु तदैव

प्रयोग की शिक्षानुसार चलाने वाले श्री विजयानन्द सूरि महाराज विजय प्राप्त करें, शेष विशेषण पूर्ववत् ॥३६॥

अथ चत्वारिंशोऽर्थः

खलचलदलनो जीयात्—

अत्र खर—चल—दल—न इति छेदः। खरो नाम कश्चिद्रावणराक्षसस्य भ्राता प्रसिद्धो रामायणे, यः शूर्पणखाया नासिकाछेदनानन्तरं दण्डकारण्य एव दूषणेनापरेण भ्रात्रा सहितः श्रीरामचन्द्रेण सह योद्धुं समायात्। तस्य खरस्य चलं वीर्यं सैन्यञ्चापि दलत्यसौ खरचलदलः, खरचलपूर्वकात् "दल विशरणे" इत्यस्माद्भ्वादिकाद्धातोः पचादिलक्षणोऽच्प्रत्ययः। स खरचलदल एव खलचलदलः श्रीरामचन्द्रो, रलयोरैक्याच्च भेदः। तेन खलचलदलेन नः सनाथोऽसौ खलचलदलनः, "नो नरे च सनाथे च, जिनाधेऽपि प्रदृश्यते" इत्येकाक्षरकोषः, "नाथः कुलपरम्परागतस्वामिनि" इतिशब्दार्थचिन्तामणिः, तेन नाथेन सह इति सनाथः, "सहस्य सः संज्ञायाम्" इत्यनेन सह इत्यस्य स्थाने सादेशः। अनेन विशेषणेन श्रीरामचन्द्रवंशे क्षत्रियवंशेऽस्य महात्मनस्य जन्माभूदिति सूचितोऽयमर्थः, [illegible] स- [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] इति [illegible] अन्वयः. [illegible] "इण् गतौ" इत्यस्मात् [illegible] अन्वयः. [illegible]

आ समन्तात् त्रोटयंति ते दायादयात्राः, दयाभावनाशकानां मध्ये तादृशानां गतेः—उत्तरोत्तरवृद्धेर्निरोधकरा उपदेशाः (तादृशा भावाः) दायादयात्रा, आङ्पूर्वकात् "त्रुट् छेदने" इति तौदादिकाण्णिजन्ताद् "अन्येष्वपि दृश्यते" इति डः प्रत्ययः, डित्वाट्टिलोपः। ते सन्ति यस्याऽसौ दायादयात्री, कलौ दयाभावं निगिलन्तो नराः प्रतिदिनमुत्तरोत्तरं वर्धन्ते स्म। तद् दृष्ट्वानेनाहिंसाव्रतस्योपदेशकराणि व्याख्यानानि दातुं समारब्धानि, तैश्च सा प्रगतिस्तत्रैव न्यरोधि, तत एवोच्यते दायादयात्रीति। ततश्चान्यान्यपि विशेषणानि सन्नियोज्यान्वयो विधेयः ॥

भावार्थ—दया के भावों को समूलोच्छेद करनेवाले यवनादि निर्दयों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई निर्दयता की गति को तोड़ने वाले, अर्थात् निर्दय मांसाहारियों के चित्तपर भी "अहिंसा परमो धर्मः" की छाप डाल कर हिंसाको रोकने वाले व्याख्यानों के दाता तथा विद्या के परम प्रेमी इत्यादि पूर्व विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द सूरि विजय को प्राप्त करें ॥४१॥

अथ द्विचत्वारिंशोऽर्थः

जिष्णुजिह्वैर्मतिनुतिगतिभिः पूजितः—

ऐः जिष्णुजिह्व ! मतिनुतिगतिभिः सहितोऽपि भवान्पूजितः "जिष्णुर्ना वासवेऽर्जुने जित्वरे वाच्यवादिनि"

इति मेदिनी। जिष्णुरर्जुनः, तस्य जिह्वेव जिह्वा यस्यासौ जिष्णुजिह्वः, तत्सम्बुद्धौ हे जिष्णुजिह्व !, एरिति सम्बोधनार्थकमव्ययम्, तत एव एःजिष्णुजिह्व इति सिद्धम्, अर्जुनस्य जिह्वा यथा सकृदेव जल्पति स्म, यदेव जल्पति तदेवाऽर्जुनः सम्पादयति, स्ववाचा पदमात्रमप्यर्जुनो न विचलति। तथैव भवानपि यदेव वाचा प्रतिपादयति, तस्मात् पदमपि न विचलति, प्रत्युत कार्यस्वरूप एव तद्वि-परिणमतीति भावः॥

मतिश्च नुतिश्च गतिश्चेति मतिनुतिगतयः, ताभि-र्मतिनुतिगतिभिः (महितोऽपीति शेषः) भवान् पूजित, पवि-त्रतया कर्त्तृभूतया जितः, पवनं पूः "पूङ् पवने" इत्यतो भावे क्विप्, पूः पवित्रा शुद्धिः, सा च कायवाङ्मनोजा। तया जितो वशीकृतो जगज्जित्वरोऽपि कायवाङ्मनःस-त्यताभिस्तु जित एव, सत्यव्यवहारवशीभूत इति भावः। इह हि निन्दागर्भितैः शब्दैर्निन्दायामपि स्तुतिरेव सूच्यते नास्त्यत्र रोपदोषहेतुः, एवं जितोऽपि भवान् अवशिष्टविशे-षणैर्विशिष्टो जीयादित्यनेनान्वयः॥

भावार्थ—ऐ अर्जुन के सदृश जिह्वा से निकले हुये अपने शब्द मात्र को भी प्राण पण से निभाने वाले श्री विजयानन्द सूरिजी महाराज ! यद्यपि उत्तम गति से युक्त आप सारे भावों के

जेता हैं, तथापि पवित्रता (अंतःकरण की शुद्धि) तथा सत्यता ने आप पर विजय पाई हुई है, अर्थात् आप सत्यता और पवित्रता के वशीभूत होकर इससे एक इञ्च भर भी बाहर न जाने वाले तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त आप जीते रहें ॥४२॥

अथ त्रिचत्वारिंशोऽर्थः

जेतृजेता जीयात—

जेतृणाञ्जेतृषु वा जेता (परतरो जेतेत्यर्थः) "जि अभिभवे" इत्यस्मात्तृच्, अभिभवश्च न्यूनीकरणम् न्यूनीभवनं च इति दीक्षितः। तस्मादत्र जेतृशब्दस्य न्यूनीभवनमेवार्थः, सा च नम्रता एव ज्ञेया, सज्जनेषु विद्वत्सु च तस्या एव सद्भावात् प्रशंसार्हत्वं सर्वसम्मतं भवतीति हेतोः। तथा चोक्तम्—

"भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैः ।
नवाम्बुभिर्भूरिविलम्बिनो घनाः ॥
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः ।
स्वभाव एवैषः परोपकारिणाम् ॥"

अन्यच्चापि—

"नमन्ति फलिता वृक्षा, नमन्ति सज्जनाः सदा ।
शुष्ककाष्ठश्च मूर्खश्च भिद्यते न च नम्यते ॥"

एतेन विशेषणेनाप्यहङ्कारोद्धतत्वादयो दोषा निरस्ताः, अभिजनत्वादिकञ्च स्पष्टतया प्रतिपादितं भवति। ततश्चाऽवशिष्टविशेषणानि यथापूर्वं संयोज्य जीयादित्यनेनान्वयः ॥

भावार्थ हे निरभिमानियों में सबसे बढ़कर निरभिमानी, अहङ्कार और उद्धता (अक्खड़पन) से रहित तथा उसी प्रकार के अभिजनों (परिवार) से युक्त, नम्रता के सञ्चार करने वाले, तथा देश देशान्तरों में क्षमा खड्ग से विजय प्राप्त करने वाले, विलक्षण लीला वाले, तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द सूरि विजय प्राप्त करें ॥४३॥

अथ चतुश्चत्वारिंशोऽर्थः

शारदारक्तिरक्तो दिग्जेता—

स—आर-दारक्तिरक्तः, उ-दिग्-ज-इ-ता इति छेदः। स [यः पूर्वोक्तविशेषणैर्जुष्टः] दारक्तिरक्तः, दे दाने आ समन्ताद्रक्तिरनुरागो दारक्तिः, तया रक्ता दारक्तिरक्ता दानशीला धनाढ्याः। उः शिवः, तस्य दिग् उदीची तस्याञ्जो मेरुः (स्वर्णगिरिः) असावुदिग्जः' "जः पुमान् विजये मेरौ" इत्येकाक्षरकोषः। तस्य "ई:" (लक्ष्मीः) इत्युदिग्जेः, तामुदिग्जयम् मेरुश्रियं तस्यति उपक्षिणोति—उदिग्जेताः। दारक्तिरक्तैः सहकारिभिरुपलक्षितैरुदिग्जेता

असौ दारक्तिरक्तो दिग्जेता आर जगाम यत्र तत्रापि सर्वत्र। मेरुस्तु स्वयमेव स्वर्णशैलः, परं स्वर्णदानेन कस्यचिदप्यभिलाषान्न पूरयति। अयं महात्मा तु दानशीलैर्धनाढ्यैर्धनदापनेन दीनानां कामनाः पूरयित्वैव मेरुशोभां चिणोति। अतएवोक्तं केनापि—

"किन्तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणापि
यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव॥
मन्यामहे मलयमेव यमाश्रितास्तु।
सर्वेऽपि निम्बकुटजा हरिचन्दनाः स्युः॥"

अत्रापि यथा कविना मेरुमहिमानमुद्दिश्य मलयमहिमैवोपवर्णितः, तथैव प्रकृतेऽपि। उदिग्जेपूर्वकान् "तसु उपक्षये" इति दैवादिकात्कर्तरि क्विप्, "अत्वसन्तस्य चाधातोः" इत्युपधादीर्घत्वम्। यद्वा "इण असिः" इत्यौणादिक आसिप्रत्ययः। बाहुलकाड्डित्वम्, डित्वाट्टिलोपः, जेत्—इत्यश्परत्वाद् "भोभगोः" इत्यादिना विसर्गस्य यत्वे, लोपे च पूर्वपदान्तस्याकारस्योत्तरपादादिकेन इकारेण सह गुणसन्धिर्नित्यसमाससञ्ज्ञाभावादिति बोध्यम्। स आर इत्यत्र "सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्" इत्यनेन सन्धिः, शसयोरैक्यात् शार इति निष्पन्नम्। शेषं यथापूर्वम्॥

भावार्थ—हे आचार्य जी महाराज ! दानशील धनियों के द्वारा दान दिलाकर दीन हीनों की दुर्गति को निवारण करके स्वर्णगिरि मेरु को भी मान करने वाले केवल आप ही हैं। अतः दीन हीनों के दुःख को मिटाने वाले, तथा पूर्व विशेषणों से युक्त आप विजय को प्राप्त करें ॥४४॥

अथ पञ्चचत्वारिंशोऽर्थः

द्विजभजनजनिर्जीयात्—

भम् चन्द्रमाः "नपुंसके भं नक्षत्रे गगने पुण्ड्चन्द्रयोः" इति। जननम्—जनः, भस्य चन्द्रस्य जनः प्रादुर्भावः [उदय इति यावत्] इति भजनः, भजन इव जनिर्यस्यासौ भजनजनिः, द्विजेषु भजनजनिरिति द्विजभजनजनिः, ब्राह्मणादिवर्णत्रयोऽपि चन्द्रोदय इवाह्लादजनक प्रादुरभूदित्यर्थः। यद्वा द्वयोजायते—इति द्विजाः, द्विजा चासौ भजनजनिरिति द्विजभजनजनिः। चन्द्रोदयस्तु एकस्मिन् पक्षे वृद्धिपरोऽन्यस्मिन् पक्षे ह्रासपरो भवति। चन्द्रोदयो वृद्धिपरस्त्वाह्लादजनकोऽसौ इतरश्च नैव। अस्य तूभयोरेव पक्षयोराह्लादप्रदैव जनिरिति विशेषार्थं सूचयति विशेषणमिदम्। ततश्च यथापूर्वं जीयादित्यनेनान्वयः॥

भावार्थ—द्विजकुल रूपी समुद्र से उत्पन्न हुये चन्द्रमा की तरह शान्ति और सुख देने वाले, परन्तु चन्द्रमा से विलक्षण

चरित्र वाले, चन्द्रमा तो एक पक्ष में घटता और एक पक्ष में बढ़ता है, परन्तु इनका चरित्र दिन पर दिन उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। यही इसमें विलक्षणता है। और शास्त्रीय ज्ञान में रक्त हुये श्री विजयानन्द सूरि सर्वत्र तुम्हारी जय हो, शेष विशेषण पूर्ववत् ॥४५॥

अथ षट्चत्वारिंशोऽर्थः

शारदारक्तिरक्तो जीयात्—

शाराः—द्यूतोपकरणानि हस्तिदन्तादिभिर्निर्मितानि, (सारपासा—इति हिन्दीभाषायां प्रसिद्धानि) "शारोऽक्षो-पकरणम्" इति मेदिनी। तेषां शाराणां दो दमनम् (सर्वथा-परिमोचनमित्यर्थः) "दयायां दमने दीने दन्दशूकेऽपि दः स्मृतः" इत्येकाक्षरकोषः। तस्मिञ्शारदे आ—आभिमुख्येन रक्तिस्तयारक्तः, शारव्यवहारदमने तु विशिष्टाऽनुरागयुक्त इतिभावः, तन्मूलकत्वाद् द्यूतस्य। अस्य किल भारतस्यैस्या-वनतौ द्यूत एव मुख्यं कारणम्, तन्मूलैव भारतयुद्धप्रवृत्तिर-भूत्। यदि पाण्डवा द्यूतव्यसनिनो नाभविष्यन्, तदा क-र्णादीनां धनुर्वेदपारगाणां परस्परं सङ्घर्षेण विनाशो नाभवि-ष्यत्। ततश्च क्रूरभूता यवना अपि भारते विशेषत आर्या-वर्ते नाऽऽगमिष्यन्, न चाप्यशोकादिभिरूर्जस्वलैः परीक्षि-तोऽहिंसात्मको धर्मो रसातलमगमिष्यत्—इत्यादिकैः शार-

गर्भितैरुपदेशैः शारक्रीडादूसनपराङ्मुखो धर्मोपदेष्टा जीयात्। शेषं यथापूर्वम् ॥

भावार्थ—सारपासों से खेलने वाले जुये चौपड़ादि दुर्व्यसनों को दबाने वाले तथा उपदेशों से जुये के कुव्यसन को मिटाने वाले तथा पूर्व विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द सूरि जी विजयी होवें। इस सारपासों के खेलने से ही इस भारतवर्ष की सारी शक्तियों का नाश हुआ है। पहिले राजा नल ने इसी खेल में राज्य हारा, और बारह वर्ष विपत्ति के काटे। इसके अनन्तर इस कथा को सुनकर भी युधिष्ठिर इस दुर्व्यसन से न बच सका, अन्त में राज्य को हार गया, जिससे परस्पर विरोध की ज्वाला भड़की, जिसमें भीष्म, द्रोण, कर्ण जैसे वीर बलिदान हो गये। वीरों से शून्य भारतवर्ष पर विरुद्ध मतवालों के आक्रमण (हमले) हुये और सर्वनाश हो गया ॥४६॥

अथ सप्तचत्वारिंशोऽर्थः

योगाभोगानुगामी—

अत्र य—उ—ग—आभ इति छेदः। याः—यवनोपमाः (आचारहीना नीचा इति यावत्), तेषां यानाम् (यवनोपमानाम्) उः—भृशम् (भूयस्त्वेन) गः—गङ्गारूप इतियोगः, तेषामचारशिक्षया पवित्रीकरणात् शान्तिप्रदत्वाच्च। "यकारः पुँसि यवनोपमे दातरि मातरि" इति त्रिकांड-

शेषः । "उ अवधारणे अन्तिके भृशार्थे" इत्यभिधानराजेन्द्रः । "गो गौरी गौरवो गङ्गा" इतिशब्दकल्पद्रुमः । तेन योगेन आभा—उपमा यस्यासौ योगाभः, पुनश्च गः प्रभा प्रकाश इत्यर्थः । "गो गौरी गौरवो गङ्गा गणेशो गोकुलेश्वरः । सर्वसिद्धिः प्रभा" इत्यादिशब्दकल्पद्रुमोक्तत्वात् । तम् गम् (प्रकाशम्) अनुगमनशील इति गानुगामी, योगाभो गानुगामी योगाभोगानुगामी । यवनसदृशानां पापाचारिणामपि स्वच्छोपदेशैः तेषाम्मनोमालिन्यं गङ्गाजलेनेव निरसार्य (प्रक्षाल्य) निर्मलताप्रदानशीलः । समये समये प्रकाशस्याऽनुरूपं [रोशनी के मुताबिक इति भाषायां] विहरणशीलश्चेति भावः । तथाभूतो जीयात् । अवशिष्टं यथापूर्वम् ॥

भावार्थ—जो लोग यवन अथवा मुसलमानों जैसे आचरण वाले अथवा आचार हीन भी आपको मिले उनके भी पापाचारों को तथा मलीन अन्तःकरणों को गङ्गाजल में स्नान किये हुवों की तरह स्वच्छ तथा कालुष्य रहित बनाकर सुधार करने वाले, तथा समय-समय के प्रकाश (रोशनी) के अनुकूल चलने वाले और उसी के अनुसार आचार व्यवहारों का संशोधन करने वाले, द्विजमात्र की सेवा करने वाले, देश तथा देश विशेष की उदासीनता के विनाशी अथवा ज्ञानगङ्गा स्वरूप होकर जगत् को पवित्र करने वाले श्री विजयानन्द जी पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त विजय को प्राप्त होवें ॥५७॥

अथाष्टचत्वारिंशोऽर्थः

खलखलदलनो जीयात्—

खल् शून्यम्, तस्य खः शब्दः खलः शून्यवादः, न च वेदान्तवादः । वेदान्तिनः खलु ब्रह्मणोऽतिरिक्तं सर्वं जगच्छून्यमस्ति न किमपीति वदन्ति, सर्वस्य जगतोऽनित्यत्वात्, अत एव अद्वैतवादिनस्ते । एवं नैयायिका जैनाश्चापि कतिचनांशेऽपि मतवादिनो द्वैतमेव साधयन्ति, परन्तु ते नित्यानित्यविवेचनाद् द्वित्वं सर्वदैव निष्ठतान्त्यादिनिर्हेतुनिर्वेदान्तिनां मतं तिरस्कुर्वन्ति । अतोऽस्य महात्मनोऽपि जैनमतानुयायित्वात् तत्तिरस्कर्तृत्वमायातम् । अत एवाह—खलस्य यो लः—वादः, "लः तुले च वादे च" इत्यभिधानराजेन्द्रः, असौ खलखलः, तस्मिन् खलखले । शून्यवादनास्तिवादे । दलनः । मर्दन-दलन इत्यर्थः । जीयात् । शेषं पूर्ववत् ॥

भावार्थ—भली प्रकार बसते हुये विद्यमान संसार को भी शून्य बतलाने वाले दिन के अन्धे अथवा दिन के अन्धे अद्वैतवादी वेदान्तियों को द्वैतवाद की संस्थापना से अथवा निराकरण (जवाब देने) से दबानेवाले, ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों की नित्यता सिद्ध करने वाले, तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्दजी विजयी होवें ॥ ४८ ॥

अथैकोनपञ्चाशत्तमोऽर्थः

योगाभोगानुगामी जीयात्—

यो दाता, गाभः—गेन धरयाऽऽभा उपमा यस्यासौ गाभः "यकारः पुंसि यवनोपमे दातरि" इत्येकाक्षरकोषः, ज्ञानस्य दातेत्यर्थः। ज्ञानस्येति कुतो गम्यते—गानुगामीतिपदादेव, गं ज्ञानम्—अनुगच्छतीति गानुगामी, "गो गौरी त्यारभ्य भोगिनी नन्दनो धरा भोगवती न हृदयम् ज्ञानं जालन्धरो लवः" इत्यन्तं शब्दकल्पद्रुमे पठितत्वात्। लघुचेतसि दातरि दानादभिमानमुत्पद्यते, अयन्तु महासत्वः, दाता भूत्वापि धरा (पृथ्वी) सदृशः। यथा धरायान्नराः कदाचिन्मलादिकम् विसृजन्ति, कदाचिद्दण्डादिना प्रहरन्ति, परं तथापि पृथ्वी तु तदर्थमन्नजलादिकमुत्पाद्य तस्य ददात्येव, न च तस्य हानौ प्रयतते। एवमेवायमपि महात्माऽपकारिष्वपुरुषेष्वपि दयामेव कुरुते, देयञ्च तेभ्यो ददात्येव। यथा चोक्तम्—

"उपकारिषु यः साधुः, साधुत्वे तस्य को गुणः॥
अपकारिषु यः साधुः, स साधुः सद्भिरुच्यते" ॥१॥

एवञ्च यः—गाभः—गानुगामी—ईदृगवस्थातः "विसर्जनीयस्य सः" इत्यनेन विसर्गस्य सः, ततः "ससजुषो

रुः" इति सस्य रुः, ततोऽपि "हशि च" इत्यनेनन रु-स्थान उः, ततश्च "आद्गुणः" इत्यनेनाकारोकारयो-रेक एव—ओकारो गुणः, उभयत्रेदमेव सन्धिकृत्यम्। ततश्च योगाभोगानुगामीति निष्पन्नं, पृथ्वीसमः शान्तः सर्वेषां भारसहनक्षमः। ज्ञानेन परापरं समीक्ष्य कार्याऽनुस-रणशीलो दाता धर्मोपदेशानाञ्जीयात्। शेषं यथापूर्वम्॥

भावार्थ—जो श्री आत्माराम जी पृथ्वी के समान शान्तमय होकर पूर्वोक्त संस्थाओं के भार सहने में समर्थ हुये, तथा दूरदर्शी ज्ञान से परापर विचार कर काम करने वाले, तथा अपकारियों पर भी उपकार करने वाले, और जैनधर्म के अद्वितीय स्तम्भ होकर धारण करने वाले हैं, वह पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त चिरकाल तक जीवें॥ ४९॥

अथ पञ्चाशत्तमोऽर्थः

दिग्जना जीयात्—

अत्र दिग्—ज—ई—ता—इति छेदः। दिक्षु जः (जयो) येषान्ते दिग्जाः। "जः पुमान् विजये, मरौ" इत्येकाक्षरकोषः। यद्वा दिशां जाः—जेतारो दिग्जाः, "जो मृत्युञ्जये, जन्मनि, पितरि, वेगे, जेतरि" इत्यभि-धानराजेन्द्रः। जेतार एव नृपत्वेन शासनं कुर्वन्तीति हेतो-र्दिग्जाः (दिक्पालाः), तेषां दिग्जानाम् (दिक्स्वामिनाम्)

ईम् मोहन्तायते (तनोति वा) असौ दिग्जेता। आद्यपक्षे यकारान्तः शब्दः, द्वितीये नकारान्तः। दिग्जेपूर्वकात् "तायृ सन्तानपालनयोः" इत्यस्मात् "तनु विस्तारे" इत्यस्माद्वा कर्तरि क्विप्। सौ परे "लोपो व्योर्वलि" इत्यनेन यकारलोपे सति प्रकृतरूपस्य सिद्धिः। द्वितीयपक्षे नकारान्तो राजवत्। अस्य दिग्विजयसम्पत्तिं दृष्ट्वा दिक्पालास्तु अस्माभिस्तु दशभिर्दश दिश एकैकेनैकैकादिगतिकाठिन्येन जिताः, अत एवैकैकस्यां दिशि हि प्रभुत्वमस्माकम्, अनेनैकेनैव दशसु दिशासु स्वप्रभावः प्रसारितः। अत एकेनैवातिकठिनतमं कार्यं कथं प्रसाधितम्, कीदृक्कुतोऽयमेतादृशः पुरुषो वा देवो वाऽन्यः को वा भवेदित्यात्मकं मोहं प्राप्ताः। एतादृक्कार्यसम्पादकः पूर्वोक्तविशेषणैर्युक्तो जीयादित्यन्वयः॥

भावार्थ—जिसकी दिग्विजय को देखकर दशों दिशाओं के दश ही दिक्पाल तथा दिग्गज भी आश्चर्य में पड़ गये कि हमने तो एक २ ने एक २ दिशा पर ही अति कठिनता से ही विजय पाई और अपनी-अपनी दिशा के पालन में बहुत प्रयत्न करते हुये कठिनता से ही अपने-अपने शासन को धारण किये हुये हैं, परन्तु इन महात्मा जी ने बिना ही किसी विशेष सामग्री के दशों दिशाओं में अनायास ही विजय प्राप्त कर ली है, यह कार्य एक पुरुष से किया जाना कठिनतम ही नहीं, प्रत्युत असम्भव है।

च निर्मितौ, नपुंसके यकारस्तु यशोरूपकयोर्भवेत्" इत्येकाक्षरकोषः। तथाभूतो विशिष्टविशेषणैर्युक्तो जीयादिति ॥

भावार्थ—जिनके शिष्य प्रशिष्यों में से आजकल के समय में भी विद्यमान आचार्य श्री १००८ श्री विजय वल्लभ जी महाराज जैसे ऊहापोह तर्क वितर्क से परिपूर्ण हैं, इनसे उनकी विद्वत्ता, सत्यार्थता तथा कार्य-कुशलता आदि का अनुमान उसी प्रकार हो सकता है, जैसे सत्पुत्र से उसके कुल का अनुमान हो जाया करता है। अतएव अनुमान, ज्ञान, दर्शन, चरित्र आदि सभी सद्गुणों से युक्त श्री विजायन्द सूरि विजय को प्राप्त करें ॥५१॥

नोट—यहां तक श्लोक के बनाने वाले और इसके इक्कावन (५१) अर्थ करने का प्रयत्न श्री आत्मानन्द जैन महासभा के सञ्चालकों की भी इच्छा-पूर्त्यर्थ किया गया, अब जैसे सूचना पत्र के पीछे श्री १००८ श्री विजयानंद सूरि जी का संक्षिप्त जीवन चरित्र दिया है, उसको भी इसी श्लोक से सिद्ध किया जायगा ॥

अथ द्विपञ्चाशत्तमोऽर्थः

अथास्य महात्मनः संक्षिप्तं जीवनचरित्रमप्यस्मादेव श्लोकाल्लभ्यते, पूर्वमस्य जन्मसम्वत्सरो लभ्यते ॥

द्विजभजनजनिर्जीयात्—

पूर्वोक्तयाज्ञवल्क्यप्रमाणेन ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या द्विजा उच्यन्ते, ते च सङ्ख्यायां त्रय एव। अतो द्विजशब्देन

पूर्वं त्रिघ्नं लब्धम्। ततो भशब्देन भानि नक्षत्राणि तानि २७ सप्तविंशतिसङ्ख्याकानि। तेषां पूर्वोपलब्धाङ्केन भागदानेन ९ नवाङ्कलब्धिः, ततश्च जकाराक्षरं विस्तरेण गणनातः १७ सप्तदशसङ्ख्यात्मकम्। संख्यास्वरूपन्तु—अत्रो नव पञ्च कवर्गीयाः, चवर्गीयास्त्रयः, सर्वेषां योगेन १७ सप्तदशः। पुनरनयोः १+७ द्वयोरप्यक्षरयोः संयोजनेन ८ अष्टाङ्कलाभः, ततः न इत्यक्षरस्यार्थो गणेशः, स च संख्यायाम् एक एव, अत एवैकाङ्कलब्धिः। ततः "अङ्कानां वामतो गतिः" इतिज्योतिर्विदां सिद्धान्तेन वामाङ्काभिमुखगमनात् द्विजः ३ भ ९ ज ८ न १ इत्येषां वामगत्या गमनात् (वैपरीत्येन) १८९३ इति लब्धाङ्का जाताः। तत्र जनिर्जन्म यस्यासौ द्विजभजनजनिर्जायात्।

ननु विभागादयः कुतो लब्धा इति शङ्कनीयम्, तन्त्रावृत्त्येकशेषाणामन्यमतेनाऽपि कार्याणि सम्भवन्तीत्युक्तत्वात्, "सकृदुच्चरितः शब्दोऽनेकार्थपरो, यत्र तत्र तन्त्रेति व्यवहारः" पुनरुच्चारणमावृत्तिः, द्वयोर्बहूनां वा यत्रैकः शिष्यते तत्रैकशेषः। तदत्र तन्त्रेणैवायमर्थो बोद्धव्यः। यद्वा 'भजन' इतित्रयाणामक्षराणामावृत्तिरेकशेषो वा विधेयः। तद्यथा—भश्च भश्च भौ, जश्च जश्च जौ, नश्च नश्च नौ, भौ च, जौ च, नौ च ते भजनाः, द्विजाश्च भजनाश्चैतेषां समाहारो द्विजभजनम्। तत्रैकस्य

भस्यार्थस्तु भानि नक्षत्राणि, द्वितीयस्य भगः, भग एव भाग इत्यर्थः, "भः—भगे, गगने, पुण्ड्रचन्द्रयोः" इत्यभिधानराजेन्द्रोक्तत्वात्। भगस्तु घञर्थे कविधानेनैव बोध्यः। तत्र भानां भागेन योऽङ्को लभ्यते, स एव ग्राह्यः। अथ केन भागः प्रदीयत इत्याशङ्कायामुत्तरम् "सहचरितासहचरितयोर्मध्ये सहचरितस्यैव ग्रहणम्" इति न्यायेन सहचरितस्य द्विज शब्दांकस्यैव ग्रहणम् भवति। एवमेवैकस्य जकारस्यार्थश्चवर्गीयस्तृतीयो वर्णः, अपरस्य च विस्तारः, "जः—मृत्युञ्जये, पितरि, विस्तरे" इत्यभिधानराजेन्द्रप्रतिपादनात्। विस्तरश्च संयोजनादेव भवति, तयोरेकत्वसप्तत्वविशिष्टयोः संयोगादष्टाङ्कलाभः। तथैवैकस्य नकारस्यार्थो गणेशः, अपरस्य च नकारस्य नर इत्यर्थः। जनिरित्यनेन समासादष्टादशोत्तरत्रिणवतिपरिमिते वत्सरे नरस्य जनिरभूदित्यर्थः। यद्वा द्वितीयस्य नकारस्यापि गणेश एवार्थः। तत्र च १८९३ तमेऽब्दे नाद् गणेशाद् जनिर्यस्येत्यर्थो बोध्यः। गणेशश्चास्य पितुर्नामेति ध्वनितम्, "नः पुंसि वह्नौ, हेरम्बे" इत्येकाक्षरकोषः। हेरम्बो गणेशः "अप्येकदन्तहेरम्बलम्बोदरगजाननाः" इत्यमरसिद्धाभिधानात्। एवम्भूतः सर्वविशेषणैर्विशिष्टो जी दित्यर्थः। एतत्तु गुर्जरसम्वत्सराभिप्रायेण ज्ञेयम्। मीयसम्वत्सरस्तु १८९४ आसीत्, तत्साधनप्रक

[illegible]

[illegible] "प्रकाशने" इत्यभिधानात्, [illegible]
भावः, धामानि (तेजांसि) नक्षत्राणीति यावत् ततः प्र-
तन्ने तदुद्दामधाम, अश्विनीनक्षत्रमितिभावः । "गृहदे-
हत्विट्प्रभावा धामानि" इत्यमरः । तस्मिन् उद्दामधाम्नि
(अश्विनी में) । पुनश्च तन्त्राश्रयणेनावृत्त्येकशेषस्य
चाश्रयणात् " [illegible] " [illegible] शब्दार्थचिन्तामणिः ।
तथ्योद्दाम धाम्न. [illegible] वरुणस्वामिकस्य

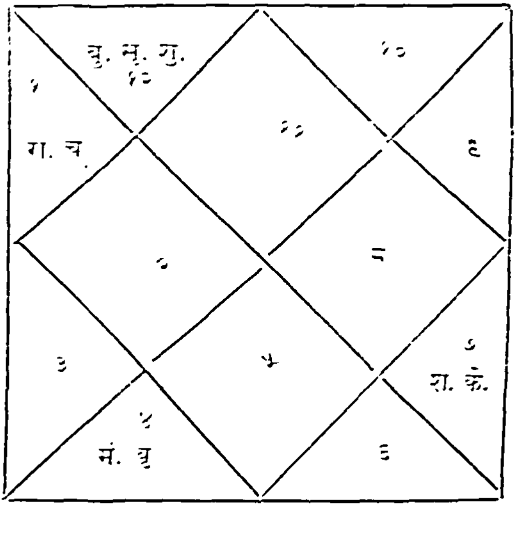
अथ त्रिपञ्चाशत्तमोऽर्थः

तस्मिन् सम्वत्सरे कदा जात इति प्रश्नस्योत्तरम्—

विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्तो जीयात्—

वयः पक्षिणो "विविष्किरपतत्रयः" इत्यमरः। वीनां पक्षिणां मधुकराणां (मधुमक्षिकाणाम्) मलं वान्तिरूपं माक्षिकम् यत्र लभ्यते स कालो विमलो वसन्त इत्यर्थः, तस्मिन् विमले यो मधुः—चैत्रो मासः स विमलमधु। तत्र विमलमधौ सदायाम्—तिथौ, सस्य हर्षस्य दा दात्री प्रापयित्र्यसौ सदा, तस्यां सदायाम्, चैत्रमासे हर्षप्रदा तिथिः सर्वाभ्योऽपि पूर्वं नूतनवर्षस्य प्रारम्भकत्वात्, नवरात्रारम्भकत्वाच्चाप्याद्या चैत्रशुक्लप्रतिपदेव आयाति, ततश्च वसन्ततौ चैत्रे मासे प्रतिपदि—इत्यन्तं लब्धम्। तत्राऽपि—उत्—ऊर्ध्वम् "उत्प्राबल्यवियोगोर्ध्वकर्मलाभप्रकाशने" इत्यभिधानात, दामरूपेणेव नैरन्तर्येणेति भावः, धामानि (तेजांसि) नक्षत्राणीति यावद् यतः प्रवर्त्तन्ते तदुद्दामधाम, अश्विनीनक्षत्रमितिभावः। "गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि" इत्यमरः। तस्मिन् उद्दामधाम्नि (अश्विनी भे)। पुनश्च तन्त्राश्रयणेनावृत्त्यैकशेपस्य वाश्रयणात् "उद्दाम वरुणे देवे" इतिशब्दार्थचिंतामणिः। तस्योद्दाम्नो वरुणस्य धाम्नः स्वाम्यस्य वरुणस्वामिकस्य

वर्ष के प्रारम्भ होने से हर्ष उत्पन्न करने वाली तिथि चैत्र शुदि प्रतिपदा हुई, उसमें भी उद्दाम अर्थात् अनुक्रम से नक्षत्र प्रारम्भ होते हैं, जिससे ऐसा अश्विनी नक्षत्र आया, और अश्विनी नक्षत्र में मेष का चन्द्रमा स्वभाव से होता है, इस वास्ते मेष का चन्द्रमा सिद्ध हुआ । 'उद्दाम' का अर्थ 'वरुण' भी है, उसका वाल नक्षत्र शतभिषा होता है, और शतभिषा की राशि कुम्भ होती है, अतएव कुम्भ लग्न सिद्ध हुआ । इससे यह उत्तर मिला कि चैत्र शुदि प्रतिपदा अश्विनी नक्षत्र मेष के चन्द्रमा में कुम्भ लग्न से हमारे चरित्र नायक का शुभागमन हुआ । ऐसे महाराज श्री विजयानन्द जी सर्वदा विजयी होवे, शेष विशेषण पूर्ववत ॥४३॥



अथ चतुःपञ्चाशत्तमोऽर्थः

अथ च पञ्चाङ्गस्यैकाङ्गभूतत्वाद्योगवर्णनमप्यावश्यकमित्याकाङ्क्षयामुच्यते—

योगाभोगानुगामी जीयात्—

योगा विष्कुम्भादयोऽष्टाविंशतिसंख्याकाः, तेषामाभोगः परिपूर्त्तिः समाप्तिर्यत्र स योगाभोगः, स च वैधृतिर्नामयोगः । तस्मिन्नप्यनुगेऽनुक्रमेण गते (भुक्ते) अन्त्यघटिकास्वतिभावः। "अ—इत्यक्षरमनुकम्पायाम्" इति शब्दार्थचिंतामणिः, "मःमाने समये, सूर्ये, चंद्रे" इत्यभिधानराजेन्द्रः । तत्र वैधृतियोगान्त्यघटिकासु अस्य—अनुकम्पायाः (दयायाः) मः समयो यस्यासौ योगाभोगाऽनुगामी, विष्कुम्भादियोगेषु सर्वपश्चिमे वैधृतियोगेऽपि समाप्तप्राये धृतजन्मायं जीयादित्यन्वयः । योगस्य वैधृतिनाम्न एवायम्प्रभावो यदीदृशो धैर्यधारी महात्माऽयमिति भावः । चैत्रशुक्लप्रतिपदि प्रायेण रेवत्यश्विन्योरेकतरं नक्षत्रमवश्यमेव भवति, एवमेव वैधृतिविष्कुम्भयोरेकतरो योगोऽपि प्रायेण भवति। तदा तु निश्चितरूपेणाश्विनीनक्षत्रं वैधृतिश्च योग आसीदितिकविमनश्चिन्तितोऽर्थः ॥

भावार्थ—जन्मकुण्डली के पञ्चाङ्ग में एक अङ्ग योग भी है, उसको 'योगाभोगानुगामी' यह पद प्रगट करता है। 'योग' का अर्थ विष्कुम्भादियोग, इन का आभोग (पूर्ति) भोगा जाने पर अर्थात् अन्त की घड़ियों में आगमन हुआ। विष्कुम्भादिक २८ योगों की पूर्ति वैधृति योग पर होती है, इस लिये सिद्ध हुआ कि वैधृति योग की अन्तिम घड़ियों में इनका जन्म हुआ। यह इसी योग का प्रभाव है कि इनका चरित्र सर्वाङ्ग पूर्ण धीरता वीरता से भरा हुआ नज़र आ रहा है। ऐसे श्री विजयानन्द जी महाराज पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त सर्वदा विजयी होवें ॥ ५४ ॥

अथ पञ्चपञ्चाशत्तमोऽर्थः

अथ मातुःपितुश्चापि नाम्नीत एव ज्ञायते—

योगाभोगानुगामी जीयात्—

अत्र य—उ—ग—अ—भ इतिच्छेदः। यं रूपकं स्वार्थे कन्विधानेन रूपकमिति स्वरूपम, तद्विरहे तु रूपमेव। "नपुंसकं यकारस्तु यशोरूपकयोर्भवेद्" इत्येकाक्षरकोषः, अभिधानराजेन्द्रश्चापि। उः—भूमिः, "उश्चंद्रभायाम्, गिरौ, भूमौ, विलोकने" इत्यभिधानराजेन्द्रः, "गः—गणेशः" इतिशब्दार्थचिन्तामणिः, अश्चन्द्रः "अःविष्णौ, शिवे, ब्रह्मणि, चन्द्रे, अग्नौ, भानावित्यादिषु" इत्येकाक्षरकोषोऽभिधानराजेन्द्रोऽपि,

भः पिता "भः पितृभ्रातृपितृव्येषु, भोऽतिभीते भ आकुले" इत्यप्येकाक्षरकोषः। तदित्थं यं रूपम् स्त्रीत्वविवक्षायां रूपा इति कल्प्यते, उः—भूमिः (जन्म इति शेषः), यद्वा भूमिशब्देनैव बीजवपनस्थानं मातैव लक्ष्यत इति। यश्च तद् उरिति योरिति निष्पन्नम्। गात्—गणेशात् अ (परत्र) अः—चन्द्र इति गाः, (गणेशचन्द्रः), गाश्चाऽसौ भ इति गाभः। तथा च यम् (रूपा) उः—भूमिः (जन्मभूमिः, मातेति यावत्) गाश्च भः पिता यस्य स योगाभः। ततश्च पुनरपि (गणेशचन्द्रः) तस्मात् गात्—गणेशचन्द्राद् अनु—आयामम् (दैर्घ्यम् महत्वमिति यावत्) गमनशील इत्यर्थः। "अनु—आयामे" इति शब्दार्थचिन्तामणिः, "आयामो दैर्घ्ये" इति शब्दकल्पद्रुमः। रूपानाम्न्यां मातरि गणेशचन्द्रात्पितुः पुत्रो गणेशचन्द्रात् (तदपेक्षयातीव) महत्वगामी वृद्धिं प्रति गमनकर्त्ताऽयं महात्मा जीयादित्यन्वयः तथा च विश्वकोषः।

"अनु हीने सहार्थे च पश्चात्सादृश्ययोरपि।
आयामे च समीपे च लक्षणादावनुक्रमे" ॥

भावार्थ—"योगाभोगानुगामी" इस पद से अब इनके मातापिता का नाम प्रगट किया जाता है। इसके दो भाग किये गये हैं, एक 'योगाभः' दूसरा 'गानुगामी'। इनमें भी फिर य-उ-ग-अ, और भः ये अलग-अलग और ग-अनु-गामी ये अलग

अलग, 'घ' का अर्थ तथा 'उ' का अर्थ भूमि अर्थात् रूपादेवी इनकी जन्म-भूमि अर्थात् इनकी माता हुई और 'ग' का अर्थ गणेश, 'अ' का अर्थ चन्द्र और 'म' का अर्थ पिता अर्थात् रूपादेवी नामक माता और गणेशचन्द्र नाम पिता से उत्पन्न हुये, परन्तु फिर ग–अ (गा) गणेशचन्द्र से अनु का अर्थ बहुत बड़ाई यानी तरक्की. गामी का अर्थ पाने वाले हुये। भावार्थ यह है कि रूपादेवी माता से और गणेशचन्द्र पिता से जन्म पाकर भी गणेशचन्द्र जी से अर्थात् अपने पिता से बहुत बढ़कर उन्नति प्राप्त करने वाले हुये। धर्मशास्त्र में ऐसा ही माना है कि पुत्र वही सुपुत्र है जो पिता से गुणों में बढ़कर हो। ऐसे सद्गुणों से युक्त श्री विजयानंद जी विजयी होवें। शेष विशेषण पूर्ववत् ॥५५॥

अथ षट्पञ्चाशत्तमोऽर्थः

क्षत्रियवंशे जात इति तु पूर्वं खलबलदलन इत्यस्यार्थप्रकाशावसरे प्रकटितमेव चत्वारिंशेऽर्थे। परं क्षत्रियेष्वपि कस्मिन् भेदे जात इति प्रतिपाद्यते—

द्विजभजनजनिर्जीयात्—

भम्—चन्द्रः "नपुंसके भं नक्षत्रे, गगने, पुंसि चन्द्रमाः" इत्येकाक्षरकोषात्, भस्य जना लोका इति भजनाः, द्विजेषु भजना इति द्विजभजनाः, तेषु द्विजभजनेषु जनि-

जन्म यस्याऽसौ द्विजभजनजनिः। भम्—चन्द्रः, आयुर्वेदे (वैद्यकशास्त्रे) चन्द्रशब्देन कर्पूरो गृह्यते, तथा च वैद्यकशब्दसिन्धौ कर्पूरः सोमसंज्ञक इति, "चन्द्रः कर्पूरकाम्पिल्लसुधांशुस्वर्णवारिपु" इति मेदिन्यपि। तथार्थकरणात् क्षत्रियेष्वपि कर्पूरलोकेषु जात इति सुस्पष्टार्थः सम्पद्यते। कर्पूरशब्दस्यैवापभ्रंशः कपूर इत्येकवचनप्रयोगादेक एव एवंभूतो जीयात्, एकल एव पुत्र इति न निगूढम् ॥

भावार्थ—हमारे चरित्रनायक क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुये यह भाव तो चालीसवें अर्थ में कथन कर चुके हैं। किन्तु क्षत्रियों में भी कौनसी जाति में जन्मे यह बात यहाँ 'द्विजभजनजनिः' पद द्वारा प्रगट की जाती है। 'भ' का अर्थ चन्द्रमा है, मेदिनी कोश के मत से जितने चन्द्रमा के नाम हैं, उतने वे सब कपूर के नाम हैं। जन का अर्थ मनुष्य लोग है, अर्थात् द्विजों में भी कपूर जाति क्षत्रिय लोगों में जन्म धारण किये हुये श्री विजयानन्द जी विजय प्राप्त करें। शेष विशेषण पूर्ववत् ॥५६॥

अथ सप्तपञ्चाशत्तमोऽर्थः

तत्पालनपोषणं केन कृतमिति प्रश्नोत्तरे तु—

शारदारशिरस्कः—

"शारन्दौर्बल्यम" इति शब्दकल्पद्रुमः, "निनाधवनिता

च दा" इत्येकाक्षरकोशः। तथा च शारं दौर्बल्यं सति (पत्युरभावादेव दौर्बल्यञ्जातम्), दायाः विधवायाः (मातुः) आसक्त्या (प्रेमसम्बन्धतया) रक्तः परिभावितः। इत्यनेन स्वल्पावस्थायामेव पत्युर्विरहेण दौर्बल्यस्य (निर्धनतायाः) प्राप्तिः, तत्र निराथया मात्रैव पालित इत्यर्थो निष्पन्नः। ततश्चापि शारदासक्तिरक्तो विद्याधिष्ठात्रीदेव्या अनुरागेण रक्तः, मातुरुपदेशादेव विद्या पठितुमारब्धा इति भावः॥

भारतीया विशेषतया संस्कृतज्ञा एव सरस्वतीं विद्याधिदेवतां मन्यन्ते, अतः शारदाशब्दग्रहणाद्भारतीयाया एव [हिन्दीभाषायाः] अध्ययनमारब्धमिति फलितोऽर्थः। तादृशो जीयात्॥

भावार्थ—इन महात्मा का पालन-पोषण कैसे हुआ यह "शारदासक्तिरक्तः" पद प्रगट करता है। 'शार' का अर्थ दुर्बलता, 'दा' का अर्थ पतिरहित स्त्री, 'आसक्ति' का अर्थ गहरा प्रेम, रक्त का अर्थ रंगा हुआ। भावार्थ यह है कि पति के न रहने से दुर्बलता (निर्धनतायुक्त माता) अर्थात पति से रहित विधवा माता के प्रेमरूपी सबंन्ध से रंगे हुये अर्थात् परिभावित हुये हुए माता के उपदेश से ही विद्या पढ़ने के लिये प्रवृत्त हुए श्री विजयानन्द सूरि विजय को प्राप्त करें। शेष विशेषण पूर्ववत॥५७॥

अथाष्टपञ्चाशत्तमोऽर्थः

ततश्च दीक्षाकालो ध्वन्यते—

खलवलदलनः—

खम्—शून्यम् (०), ल इन्द्रः (१), स एव स्वर्गाधि-
, वः—वातः स चोनपञ्चाशत्संख्याको मरुताङ्गणः,
पूर्वाङ्कद्वयेन भागे कृते ४९÷१० $\frac{४९}{१०}$—९ अवशिष्यन्ते,
नवाङ्कलब्धिः, अथवा वर्णगणनक्रमेण वकार ऊन-
रिंशो भवति, तत्रापि भागान्नवैव शिष्यन्ते, ततोऽपि
ाङ्कलब्धिरेव, ततश्च पुनर्लः—इन्द्रः, स चाप्येकः,
ङ्कानां वामतो गतिः" इत्याश्रयणात् १९१० इत्याया-
। तत्र खलवले दलः—दं दीप्तिं प्रकाशं बोधं
लाति—आददात्यसौ दलः, तथा चैकाक्षरकोषः—

"दो दाने पूजने चीणे दानशौण्डे च पालके।
देवे दीप्तौ दुराधर्षे दोर्भुजे दीर्घदेशके॥
दयायां दमने दीने दन्दशूकेऽपि दः स्मृतः।
युद्धे च बन्धने बोधे वाले बीजे बलोदिते॥"

दपूर्वकात् "ला आदाने" इत्यतः "आतोऽनुपसर्गे
कः" इत्यनेन कप्रत्ययः, "आतो लोप इटि च" इत्याका-
रलोपेन दल इति सिद्धः। ततश्च खलवलपदेन सह

समासे कृते खलबलदल इति जातः । ततश्च खलबलदलश्चासौ नः सनाथ इति खलबलदलनः, "नो नरे च सनाथे च" इत्येकाक्षरकोषः । इत्यतः १९१० ऊनविंशत्युत्तरदशकेऽब्दे बोधग्राही (दीक्षाग्राही) सनाथः (नाथेन गुरुणा सह) जात इति शेषः । एवम्भूतो जीयादित्यनेनान्वयः ॥

भावार्थ—अब इन महात्मा की दीक्षा के सम्वत् को "खलबलदलन" पद प्रगट करता है। 'ख' का अर्थ शून्य (०), 'ल' का अर्थ इन्द्र स्वर्ग का राजा, वह एक ही है। इसलिये इसका अर्थ एक हुआ। 'ब' का अर्थ वायु, वायु का गण ४९ है, इसमें दश का भाग देने से ९ बाकी बचते हैं। इससे शेष अङ्क ९ का लाभ हुआ अथवा मङ्गलाचरण रूप ओम् और ९ स्वर और पच्चीस वर्णाक्षर और चार अन्तस्थ (य र ल व) वर्ण इस तरह जोड़ने से ३९ हुये इसको भी दश का भाग देने से ९ बाकी बचते हैं। इस तरह भी शेष अङ्क का लाभ हुआ और फिर 'ल' का अर्थ वही इन्द्र एक (१) हुआ, तो इस क्रम से अंकों को दाईं तरफ से बाईं तरफ लिखने से १९१० बन गये। फिर 'द' का अर्थ प्रकाश अर्थात् बोध और 'न' का अर्थ लेना है। भावार्थ यह हुआ कि १९१० में आपने बोध (दीक्षा) को ग्रहण किया। इस प्रकार दीक्षा को ग्रहण करने वाले श्री विजयानन्द सूरि विजय प्राप्त करें। शेष विशेषण पूर्ववत् ४८

अथैकोनषष्टितमोऽर्थः

सनाथतया किं कृतमित्याकाङ्क्षायामुत्तीर्यते—

शारदारक्तिरक्तो जीयात्—

शारदा वाग्देवी (सरस्वती) "माया नारायणी देवी शारदेत्यम्बिकेति च" इति तन्नामसु शब्दकल्पद्रुमपठनात् "लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालम्" इति तद-भिप्रायेणैव पुष्पदन्तपाठाच्चापि शारदा सरस्वत्येव, तस्याः शारदाया इदं शास्त्रं शारदं सारस्वतचन्द्रिकादिरूपम्, तस्मिन्नासमन्तात् (सर्वभावपरित्यागेनैकाग्रचित्ततया) रक्तिः प्रेम, तया रक्तः परिप्लुतोऽभूदिति शेषः, सार-स्वतचन्द्रिकादिपठनानुरागवान् सम्वृत्त इतिभावः। तदनु-रागेणैव तत्र निष्णातोऽभूदितितत्त्वार्थः। पूर्वान्तेन सारस्वत-चन्द्रिकेऽधीते, तत्सूत्राणां सरस्वत्युक्तत्वात्सारस्वतत्वम्। तौ च व्याकरणग्रन्थौ, ततः सर्वस्यापि विद्याविषयस्य व्याकरणमूलकत्वात् तदधीतः सकलोऽपि शास्त्रविषयः सारस्वत एव। स एव शारदशब्देनाभिधीयत इति तद्भाव-भावितो न्यायवेदान्तादिज्ञानसम्पन्नोऽभवदितिशेषस्तथा-भूतो जीयात्॥

भावार्थ—फिर उन्होंने क्या किया इसका उत्तर "शारदा

समासे कृते खलवलदल इति जातः । ततश्च खलवलदलश्चासौ नः सनाथ इति खलवलदलनः, "नो नरे च सनाथे च" इत्येकाक्षरकोषः । इत्यतः १९१० ऊनविंशत्युत्तरदशकेऽब्दे बोधग्राही (दीक्षाग्राही) सनाथः (नाथेन गुरुणा सह) जात इति शेषः । एवम्भूतो जीयादित्यनेनान्वयः ॥

भावार्थ—अब इन महात्मा की दीक्षा के सम्वत को "खलवलनदलन" पद प्रगट करता है । 'ख' का अर्थ शून्य (०), 'ल' का अर्थ इन्द्र स्वर्ग का राजा, वह एक ही है । इसलिये इसका अर्थ एक हुआ । 'व' का अर्थ वायु, वायु का गण ४९ है, इसमें दश का भाग देने से ९ बाकी बचते हैं । इसमें शेष अङ्क ९ का लाभ हुआ अथवा मंगलाचरण रूप ओम् और ९ स्वर और पच्चीस वर्गियाक्षर और चार अन्तस्थ (य र ल व) वर्ण इस तरह जोड़ने से ३९ हुये । इसको भी दश का भाग देने से ९ बाकी बचते हैं । इस तरह भी शेष अङ्क का लाभ हुआ और फिर 'ल' का अर्थ वही इन्द्र एक (१) हुआ, तो इस क्रम से अंकों को दाईं तरफ से बाईं तरफ लिखने से १९१० बन गये । फिर 'द' का अर्थ प्रकाश अर्थात बोध और 'ल' का अर्थ लेना है । भावार्थ यह हुआ कि १९१० में आपने बोध (दीक्षा) को ग्रहण किया । इस प्रकार दीक्षा को ग्रहण करने वाले श्री विजयानन्द सूरि विजय प्राप्त करे । शेष विशेषण पूर्ववत ॥५८॥

अथैकोनपाष्टितमोऽर्थः

सनाथतया किं कृतमित्याकाङ्क्षायामुत्तीर्यते—

शारदारक्तिरक्तो जीयात्—

शारदा वाग्देवी (सरस्वती) "माया नारायणी देवी शारदेत्यम्बिकेति च" इति तन्नामसु शब्दकल्पद्रुमपठनात् "लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालम्" इति तद-भिप्रायेणैव पुष्पदन्तपाठाच्चापि शारदा सरस्वत्येव, तस्याः शारदाया इदं शास्त्रं शारदं सारस्वतचन्द्रिकादिरूपम्, तस्मिन्नासमन्तात् (सर्वभावपरित्यागेनैकाग्रचित्ततया) रक्तिः प्रेम, तया रक्तः परिप्लुतोऽभूदिति शेषः, सार-स्वतचन्द्रिकादिपठनानुरागवान् सम्वृत्त इतिभावः। तदनु-रागेणैव तत्र निष्णातोऽभूदिनितत्त्वार्थः। पूर्वन्तेन सारस्वत-चन्द्रिकेऽधीते, तत्सूत्राणां सरस्वत्युक्तत्वात्सारस्वतत्वम्। तौ च व्याकरणग्रन्थौ, ततः सर्वस्यापि विद्याविषयस्य व्याकरणमूलकत्वात् तदधीतः सकलोऽपि शास्त्रविषयः सारस्वत एव। स एव शारदशब्देनाभिधीयत इति तद्भाव-भावितो न्यायवेदान्तादिज्ञानसम्पन्नोऽभवदितिशेषस्तथा-भूतो जीयात्॥

भावार्थ—फिर उन्होंने क्या किया इसका उत्तर "शारदा

रक्तिरक्तः" प्रगट करता है। शारदा, (सरस्वती). शारदा का कहा हुआ शास्त्र सारस्वत चन्द्रिका भी शारद नाम से ही कहा जा सकता है। इसमें 'आरक्ति' पूरा-पूरा सम्बन्ध अथवा लगाव, 'रक्त' का अर्थ पूरे तल्लीन है। तात्पर्य यह कि सारस्वत और चन्द्रिका को इन्होंने पूरा प्रेम लगाकर पढ़ा। यह दोनों व्याकरण के ग्रंथ हैं। व्याकरण ही सारे शास्त्रों का सार है। इसलिये इन्होंने जो कुछ पढ़ा, वह सब ही शारद बन गया। अतः इनके पढ़े हुये सभी शास्त्र न्याय वेदान्त मीमांसादि शास्त्र सारस्वत कहलाने लगे। इसके प्रेम में लगे हुये पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द सूरि जी विजय को प्राप्त करें ॥८६॥

अथ षष्ठितमोऽर्थः

दिग्जेता—

अत्र दिग्—जा—आ—ई—ता—इति छेदः। तत्र दिक्षु पूर्वदक्षिणपश्चिमासु, जा समुद्रवेला समुद्रतट-मितियावत्, आ आङ्मर्यादायाम्, ईम् गतिम् तायते—पालयतीति दिग्जेता। जा समुद्रवेलेत्यभिधानराजेन्द्रः, "वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु" अत्र ईकारोऽपि धात्वन्तरम् प्रश्लिष्यत इति दीक्षितः। तेन अयनम्, "ईः" इत्यत्र—ईधातोर्भावे क्विप्, ततश्च "तायृ सन्तानपालनयोः" इतिधातोः कर्तरि क्विप्, तस्मात्

समुद्रवेलां यावत् गतिमान्—पद्भ्यामेव गन्ता इत्यर्थः एभिर्महात्मभिर्गुजरातकाठियावाड़मारवाड़मेवाड़मालवा-मध्यप्रान्तपाञ्चालप्रभृतिषु देशेषु पद्भ्यामेव प्रयाणं भ्रमणं कृतमितिनिष्पन्नम् । तच्च भारतवर्षमात्र एव, नान्यत्राऽमरीकादौ यानमारूह्य गमनस्य तद्धर्मशास्त्रेषु निषिद्धत्वात् । अनेन च अमरीकाया आह्वाने समायातेऽपि तत्र यानं न कृतमितिबोधितम्, पद्भ्याम् तत्र गमनस्याशक्यत्वात्, यानमारूह्य गमनस्य निषेधाच्चेतिदिक् ॥

भावार्थ—अब हम "दिग्जेता" पद से ही इन महात्मा को पादविहारी सिद्ध करते हैं। इसके दिग्-जा-आ-ई-ता ये पांच टुकड़े हैं। 'दिग्' का अर्थ पूर्व पश्चिम दक्षिणादि दिशा, 'जा' का अर्थ समुद्र का किनारा, 'आ' का अर्थ मर्यादा, 'ई' का अर्थ चलना, 'ता' का अर्थ पालन करना, अर्थात् पूर्वादि सभी दिशाओं में समुद्र के किनारे तक अपने धर्म की मर्यादा में रहकर किसी भी सवारी बिना पाँवों से चलकर ही विहार की मर्यादा पालन करते रहे। गुजरात, काठियावाड़, मारवाड़, मेवाड़, मालवा, मध्यप्रान्त और पाञ्चालादि देशों में भ्रमण करने वाले, भारतवर्ष मात्र में रहकर अपने धर्म का उपदेश करते हुए धर्म की मर्यादा पालने वाले श्री विजयानन्द सूरि जी विजय को प्राप्त होवें। शेष विशेषण पूर्ववत् ॥६८॥

नोट—इस वचन से यह भी सिद्ध हो गया कि अमरीका आदि देशों से बुलावा आने पर भी आप वहाँ नहीं गये। क्योंकि

बिना किसी सवारी के वहाँ जाना असम्भव था और किसी प्रकार की भी सवारी पर चढ़कर जाना इनके धर्म के विरुद्ध था। इसलिये वह अपने धर्म की मर्यादा ही पालन करते रहे और अपनी अनुपस्थिति की पूर्ति के लिये अपने प्रतिनिधि तरीके मि॰ वीरचन्द राघव जी गांधी बी॰ ए॰ को शिकागो (अमेरिका) में भेजकर सार्वभौमधर्मपरिषद् में जैनधर्म की प्रधानता, सिद्धान्त और अनेकान्तवाद का प्रचार करा कर अपनी दक्षता और दूरदर्शिता का खूब परिचय दिया ॥६०॥

अथैकषष्ठितमोऽर्थः

जिष्णुजिद्धर्ममतिनुतिगतिभिः पूजितो योगाभोगानुगामी जीयात्—

मतिः—नुतिः—गतिः—भिः—इति छेदः। अत्र वर्णसामान्यान्निरुक्तिर्निरुक्तमतेन बोध्या। "मो मन्दिरे च माने च सूर्ये चन्द्रे शिवे विधौ" इत्येकाक्षरकोषः, "नु स्तुतौ वारिणि वितर्के च" इत्यभिधानराजेन्द्रः, गः सर्वगः [सर्वं गच्छति जानातीति ज्ञानार्थे गमने प्रयोगः], अतएव सर्वगः सर्वज्ञ इतियावत्। तदित्थम्—मानि मन्दिराणि तनोति—विस्तारयत्यसौ मतिः, नुः वितर्कान् तनोति हासयत्यसौ नुतिः, गं सर्वज्ञं तन्त्रयते कुटुम्बयते स्वकीयत्वेन स्वीकरोतीत्यर्थः—असौ गतिः, भातीति भिः—

भास्वरः। इत्यत्र सर्वत्र "सर्वधातुभ्य इन्" इत्यौणादिक इन, बाहुलकाड्डित्त्वम, डित्त्वाट्टिलोपः । तन्—तन्—तन्त्र—भा इतिचतुर्णामेव धातूनां तिः, तिः, तिः, भिरितिरूपचतुष्टयसिद्धिः । तदुक्तं—

"संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्याद्विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥

अन्यच्चाप्युक्तम्—
"सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङाञ्च,
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्ध्यति बाहुलकेन"

उणादयो बहुलमितिसूत्रयता पाणिनिना ध्वनितम् । भाष्यकृताऽपि लृकारस्य पृथगुपदेशे कारणं निर्दिशता "लृफिडः—लृफिड्डः" इत्युदाहरता फिडफिड्डावौणादिकप्रत्ययाविति प्रतिपादयता च स्फुटतामानीतम् । ततश्च मतिश्चासौ नुतिर्मतिनुतिः, मतिनुतिश्चासौ गतिर्मतिनुतिगतिः, स चासौ भिरिति मतिनुतिगतिभिः एवम्भूतः सन् जिष्णुजिह्वैः पूजितः सत्कृतः ॥

योगाभोगानुगामी, य—अग इति छेदः । अगः—सूर्यः "अगः स्यान्नगवत्तरौ, शैले, सरी सूर्ये, भानौ" इतिहैमः । यो भवान् अगाभः—अगस्य सूर्यस्य इव

[illegible]

भावार्थ— '[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]' के [illegible] का [illegible] किया जाता है — [illegible] [illegible] [illegible] का अर्थ [illegible] या [illegible], [illegible] का अर्थ [illegible] [illegible] [illegible] का अर्थ [illegible], [illegible] का अर्थ [illegible], अर्थात् [illegible] की [illegible] [illegible] के [illegible] और [illegible] [illegible] के [illegible] का [illegible] को [illegible] की [illegible] और [illegible] [illegible] की [illegible] [illegible] है [illegible] और [illegible] के [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है।

अथ द्वापष्टितमोऽर्थः

ततश्चानेनानेकान् ग्रन्थान् रचयित्वा बहूपकृतमिति ध्वनिः—

शारदारक्तिरक्तः—

शसयोरैक्यादत्र सारदेति छेदः । सारो बलम् "सारो बले, स्थिरांशे च, मज्जि, पुंसि जले, धने, न्याय्ये, क्लीबे त्रिषु वरे" इतिमेदिनी । दाः—दानम् "डुदाञ् दाने" इत्यस्मात् क्विप्, सारस्य दाः सारदाः (बलदानम्). न च विशेषेण ज्ञानित्वात् ज्ञानस्यैव बलं दातुं योग्यः, सर्वसाधारणम्प्रति ज्ञानबलं पुस्तकैरेवानायासेन दीयते, ततो बलदानार्थं ग्रन्थरचनमेव सारदाक्रिया, तस्यां रक्ति—लवलीनता, तया रक्तः—आभिमुख्येन स्वाभिमुख्येन रत इत्यर्थः । यद्वा सारस्तत्त्वम्, तस्य दा शोधनम् (निर्णयः) सारदा, इत्यस्य तत्त्वनिर्णय इत्यर्थः, तस्य रक्तया रक्तो लवलीन इत्यर्थ एव बोध्यः । तत्र—"दैप्-शोधने" इत्यतः क्विप्, सोऽपि (तत्त्वनिर्णयोऽपि) ग्रन्थनिर्माणेनैव सुगमरीत्या सर्वसाधारणं प्रति सुप्रतिपाद्यः स्यादिति, अतएव तत्त्वनिर्णयनामक एव ग्रन्थो व्यरचीति । ततश्चान्यान्यपि पुस्तकानि तत्त्वप्रतिपादनार्थमारूपेणैव रचितानि । तैरुपकारक रक्तिरक्तः स जीयादिति सम्बन्धः ॥

भावार्थ—"शारदारत्निरूक्त" इस पद से यह सिद्ध करता है कि उन्होंने बहुत से ग्रंथ रचकर संसार का बहुत उपकार किया है। 'शार' का अर्थ बल या तत्त्व है, 'दा' का अर्थ देने वाला या शोधन (निर्णय) करने वाला, इन महात्माओं में ज्ञान की अधिकता होने से ज्ञानरूपी बल देना और तत्त्वार्थ अर्थात् असली अर्थ का निर्णय करना सिद्ध होता है, वह ग्रन्थ रचना से ही अच्छी तरह किया जा सकता है। इसीलिये उन्होंने "तत्त्वनिर्णयप्रासाद" नामक ग्रन्थ उदाहरण रूप से लिखा। जिसको देखकर यह अनुमान किया जाता है कि उन्होंने ऐसे और भी ग्रन्थ जगदुपकारार्थ लिखे हैं इससे सिद्ध हुआ कि बहुत से तत्त्वनिर्णयप्रासादादि ग्रंथों की रचना करके जगत् का उपकार किया है ऐसे श्री विजयानन्द सूरि जी विजय प्राप्त करें, शेष विशेषणद्वयवत् ॥ ३८॥

अथ विशेषणान्तरं

दायादयात्री जीयात्—

दयानां समूहो दायम्, तम् दायम् आददते—स्वीकुर्वन्ति ते दायादा जनाः, तेषु दायादेष्वपि यात्रयती-त्येवंशीलो दायादयात्री, जैनतत्त्वप्रदाने विहरणशील इत्यर्थः। यात्राशब्दात् "तत्करोति तदाचष्टे वा"—इत्यस्मिन्नर्थे नामधातुविषयके णिचि कृते ताच्छील्ये णिनिः। यद्वा "दः—दयायाम्" इत्येकाक्षरकोषः, तस्य दस्य—अयो

गतिः—दायः, पुनश्च दाः चीणाः, न दाः—अदा अचीणाः प्रबलाः, दाये अदाः—दायादाः, दयायां प्रबला इत्यर्थः। तेषु दायादेषु यां गतिं त्रायते (यात्रयति वा) इत्येवंशीलो दायादयात्री, दयाप्रधानेष्वेव यात्रया विहारीति भावः। जैनेष्वेव तद्गमनप्राधान्याज्जैनधर्मोद्धारकत्वमस्मिन् प्राशस्त्येन प्रतीयते, ततोऽयमपि जैन एवेति ध्वनिः। अतएवानेन जैनधर्मिषु बहूपकृतमिति सूपपादितम्, तदुपजीवित्वादगृहीततद्धर्मदीक्षाव्रतोऽयं जीयादित्यन्वयः॥

भावार्थ—"दयादयात्री" इस पद से सिद्ध किया जाता है कि इन्होंने जैन धर्मावलम्बियों पर बहुत उपकार किये। दयामात्र एक धर्म को ही प्रधान धर्म मानकर उसे स्वीकार करने वाले अर्थात् जैनी लोगों में ही यात्रा करके विशेष रीति से धर्म की ओर झुकाकर और अपने धर्म के नियमों पर दृढ़ निश्चय वाले बनाकर जैनधर्म का उपकार करने वाले तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द सूरि जी विजय को प्राप्त करें॥६३॥

अथ चतुःषष्टितमोऽर्थः

खलवलदलनो जीयात्—

'खः—वितर्के, लः—वादे' इत्यभिधानराजेन्द्रः, वल् संवरणे धातुः। तदित्थम्—खेन वितर्केण लं वादं वलन्ते (संवृण्वते) ते खलवला, नीरण्डाः (अजैनाख्याः),

तेषामपि दलनः स्वतर्केणपरिमर्दनः । एतेन महात्मकृतग्रन्थावलोकनेन 'हर्नले साहेब' इत्युपाधिधारिणा तद्धृदय एव प्रधर्षणाऽनुभवात् स्वग्रन्थे तत्प्रशंसाकरमपि ख्यापितम् । एवम्भूतो जीयात् ॥

भावार्थ—"खलबलदलन" इस पद से यह सिद्ध किया जाता है कि जैनधर्म में रहकर इन्होंने "हार्नले"* साहब जैसे अंग्रेजों के चित्त पर भी विशेष प्रभाव डाला। 'ख' का अर्थ वितर्क (दलील बाजी) 'ल' का अर्थ वाद (झगड़ा) 'बल' का अर्थ लपेटना अर्थात् दलीलबाजी से झगड़े में लपेटने वाले, ईसाई अंग्रेजादियों को भी दलने वाले, (अपने तर्क से नीचा दिखाने वाले) इससे इन महात्मा के लिखे हुये ग्रन्थों को देखते ही हार्नले साहब अपने दिल से हार मानने का अनुभव करके अपने ग्रन्थ में इनकी प्रशंसा करने लगे, इस प्रकार के प्रभावशाली तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द जी विजय को प्राप्त करें ॥६४॥

---

*यह योरप के पाश्चात्य विद्वान् हुए हैं, इनका सम्पूर्ण नाम और पद नीचे दिया जाता है।

A. F. Rudolf Hoernle, Ph. D. Tubingen, Fellow of the Calcutta University, Honorary Philological Secretary to the Asiatic Society of Bengal.

अथ पञ्चपाष्ठितमोऽथः

जिष्णुजिह्वैर्मतिनुतिगतिभिः पूजितः—

जयन्तीति जिष्णवो जयशीलाः, तेऽपि गोरण्डा एव भारतजयेनैव तेषां राज्यस्थितेरवलोकनात्, तेषु जिष्णुषु ये जिह्वाः, जिह्वा इव कर्मकर्त्तरि व्याख्यातारस्ते जिष्णुजिह्वाः, तैर्जिष्णुजिह्वैर्मतिनुतिगतिभिर्लक्षणलक्षि-

---

आपने जैनधर्म के एक नामी प्राकृत ग्रंथ "उपासकदशांग" का अंग्रेजी अनुवाद सन् १८८८ में छपवाया। उसकी भूमिका में आपने लिखा है कि—"For some of this information I am indebted to Muni Maharaj Atmaram Ji Anand Vijay Ji, the well known and highly respected Sadhu of the Jain Community throughout India, and author of (among others) two very useful works in Hindi, the Jaina Tattwadarsha mentioned in note 276 and the Agyana Timira Bhaskara. My only regret is that I had not the advantage of his invaluable assistance from the very beginning of my work".

इस लेख का सारांश यह है कि किंचित् शास्त्रीय ज्ञान के सम्बन्ध में मैं मुनि महाराज श्री आत्माराम जी, आनन्दविजय जी का ऋणी हूँ। यह महात्मा हिन्दुस्तान भर की जैनप्रजा के प्रसिद्ध और परम पूज्य साधु हैं। इन्होंने हिन्दी में कई ग्रन्थों की रचना

[illegible]

भावार्थ — [illegible]

[illegible]

[illegible]

अथ सप्तषष्टितमोऽर्थः

केदारौदास्यदारी जीयात्—

"कः कामः" इत्येकाक्षरकोषः, ईः प्रत्यक्षे (दर्शने), "ईः—विषादे दुःखभावनायाम् क्रोधे अनुकम्पायाम् प्रत्यक्षे" इत्यभिधानराजेन्द्रः । तस्य कस्य कामस्य ईम्—प्रत्यक्षम् (साक्षात्करणम्) दहति द्यति चाऽसौ केदः शिवः, तस्य केदस्य अरि शत्रुः सोऽपि काम एव, केपूर्वात् "दह भस्मीकरणे" इत्यतः "दो खण्डने" इत्यस्माद्वा डःप्रत्ययः, डित्वाट्टिलोपः । "दः—देवे" इत्येकाक्षरकोषः, तस्मिन् केदारौ कामविषये तु दानाम्—देवानामप्यास्यं दृणाति दारयति वेत्येवंशीलः केदारौदास्यदारी, "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति सप्तम्या अलुक्, बाहुलकात्कृदन्तान्ते परेऽप्यलुगेव, कामे तु देवा अप्याश्चर्येण मुखं व्यादाय विस्मयन्त इति भावः । तदुक्तम्—

"कामः सर्वात्मना हेयो यदि त्यक्तुं न शक्यते ।
मुमुक्षां प्रति कर्त्तव्यः सैव तस्य हि भेषजम् ॥"

इत्युक्तत्वात् सदा सर्वथा सर्वकामनां परित्यज्य मोक्षकामोऽयमिति भावः ॥

भावार्थ—बुद्धिमानों को केवल मोक्ष की कामना छोड़कर और सब प्रकार के इन्द्रियजन्य कामविषय छोड़देने चाहियें। ये महात्मा मोक्षकामी थे। इस बात को सिद्ध करने वाला "केदारी-दास्यदारी" पद है। 'क' का अर्थ कामदेव और 'ई' का अर्थ दर्शन, 'द' का अर्थ फूकने वाला. 'अरि' का अर्थ शत्रु, फिर 'द' का अर्थ देवता, 'आस्य' का अर्थ मुख. 'दारी' का अर्थ खोलने वाला. अर्थात् कामदेव को दर्शनमात्र से फूक देने वाले, जो कामदेव शिवजी महाराज का शत्रु हुआ, उस कामदेव (मदन) के विषय में तो आश्चर्य के मारे देवता लोग भी मुँह फाड़ कर देखते रह जाते थे कि त्रिलोकविजयी मदन (कामदेव) का कैसा मुख भञ्जन किया। तद्विषयक सारी कामनाओं को छोड़कर केवल मोक्ष की कामना वाले श्री विजयानन्द सूरि विजयी होवें। शेष विशेषण पूर्ववत् ॥६७॥

अथाष्टषष्टितमोऽर्थः

लोलर्लीलस्खलज्जो जीयात्—

"लोला जिह्वा" इतिशब्दार्थचिन्तामणिः, लोलाया जिह्वाया लीलाः—विलासाः, "लीलां विदुः केलिविलास-त्यादिकेषु" इतिविश्वः। ते च द्विविधाः, प्रथमा आस्वाद-विषयकाः, द्वितीयाश्च वचनविषयकाः, प्रथमास्तावत् कटुतिक्तकषायमधुराम्ललवणाद्या विविधा आस्वादाः समधिकमास्वदन्ते पुरुषाणाम्, द्वितीयाश्चापि वादविवाद-

योनिंग्रकोटयां निपातनाद् वादिनां चित्ताह्लादनाय गीतादीनां गानेनोपहासोक्तिषु तत्क्षणमेव प्रतिभाभास्वरैरुत्तरैः पठनपाठनादिषु चापि तत्सहायताप्रदानैरतीवानन्दप्रदाः, ते वाग्विलासा इत्याख्यायन्ते, सर्वास्ता लोलाया एव लीलाः कथ्यन्ते । तासु लोललीलासु स्वरन्ति—आक्षिपन्तीति स्वरन्तः, तान् स्वरतो जयतीति लोललीलस्वलञ्जः । यदा साधवो निर्मर्यादा भूत्वा जिह्वाविलासवशगाः सन्तो लोकलोचनगोचरा भवन्ति, तदा लोकाः तेष्वाक्षेपान् कर्त्तुमारभन्ते । परमयं महात्मा तु यथालाभं भोजनादनस्वादपरोऽनुचितवाग्विलासाप्रयोगाच्च संयत एवासीदितिहेतोरेवाक्षेपकारिणामनवकाशप्रदानादेव तज्जेताऽभूदिति, अतिशक्तेः परिपन्थिनोऽपि नोत्सहन्त आक्रमणं विधातुम् । "स्वर्—आक्षेपे" इति चौरादिकाच्छत्रन्तात्परस्थितात् "जि जये" इत्यस्माड्डः प्रत्ययः, णिचोऽनित्यत्वान्नात्रप्रयोगः, रलयोरैक्याल्लप्रयोगः । ततोऽशिष्टविशेषणान्वयम्विधाय जीयादित्यनेन सन्धेयः ॥

भावार्थ—इन महात्मा ने चंचल जिह्वा के वश में न पड़कर अधिक जिह्वा चलाने वाले निन्दक जनों को जिह्वा चलाने का अवकाश नहीं दिया और नाहीं अपने आप उसका अनुचित प्रयोग किया, इस बात को सिद्ध करने वाला पद "लोललीलस्वलञ्जः" है । 'लोल' का अर्थ चंचल जिह्वा, 'लीला' का अर्थ आनन्द, 'स्वलञ्जः'

का अर्थ कटाक्ष करने वालों को लज्जित करने वाला अर्थात् चंचल जिह्वा के दोनों प्रकार के आनन्द के विषय में कटाक्ष करने वालों को लज्जित करने वाले, कटाक्ष करने वालों को मौका ही नहीं मिलता था कि वह अंगुली उठा सकें, क्योंकि इनके व्यवहार को देखकर वह स्वयं ही लज्जित हो जाते थे। जिह्वा के दो प्रकार के आनन्द हैं, एक तो खट्टे, मीठे, चटपटे पदार्थ खा कर आनन्द लेना, और दूसरा अनुचित शब्दों को बोल कर किसी पर कटाक्ष करना वा हँसी-मखौलादि से दूसरे के चित्त पर चोट लगाना। परन्तु यह महात्मा इन दोनों विषयों पर विजय पाये हुए थे, अर्थात् समय पर जैसा भोजन प्राप्त होता, वैसा पा लेते और असह्य शब्दों से किसी के हृदय पर आघात भी न पहुँचाते थे। ऐसे गुणों से विशिष्ट श्री विजयानन्द सूरिवर विजयी होवें। शेष विशेषण पूर्ववत् ॥६८॥

अथैकोनसप्ततितमोऽर्थः

लोलर्लीलस्वलज्जो जीयात—

"लोलाः—स्त्रियः" इतिशब्दार्थचिन्तामणिः, तासां लोलानां (स्त्रीणाम्) लीलाः—विलासाः (हावभावकटाक्ष-रूपाः) इतिलोललीलाः, लोललीला एव स्वम् धनं यासान्ता लोललीलस्वाः, लोललीलस्वाः लज्जन्ते यस्मात् स लोललीलस्वलज्जः । प्रायेण कामिन्यो हावभावकटाक्ष-रूपैरेव स्वसर्वस्वैर्लोकान् मोहयन्ति (मदयन्ति), स्ववशीकृत्य

नानाप्रकाराश्चेष्टाः कुर्वन्ति । तद्वशगो भूत्वा मनुष्योऽपि यद्यत्ताः कारयन्ति, तत्तत्सर्वं समाचरति । तदुक्तम्भोजकालीदासीये—

"न किं दद्यान्न किं कुर्यात् स्त्रीभिः स प्रार्थितो नरः ।
गर्दभा यत्र हेषन्ते तत्र पर्वणि मुण्डनम्" ॥

अन्यच्चापि

"एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतोः,
विश्वासयन्ति हि परं न च विश्वसन्ति ।
शीघ्रं प्रविश्य सरलं हृदयं नराणाम्,
किं किं न वामनयना हि समाचरन्ति ॥" इत्यादि

परं प्रकृते त्वस्य महात्मनः समक्षन्तासां स्त्रीणाम् ता लीलाः शृङ्गारसर्वस्वरूपा एव ताः स्त्रिय एव लज्जयन्ति, तत्रप्रयोगस्यासाफल्यदर्शनाद् वैयर्थ्यापत्तेः । यथा च भर्तृशतके शान्तरसवर्णने श्रीमता भर्त्रा निगदितम्—

"बाले लीलामुकुलितममी मन्थरा दृष्टिपाताः
किं क्षिप्यन्ते विरम विरम व्यर्थ एष श्रमस्ते ।

सम्प्रत्यन्ये वयमुपरतं बाल्यमास्था वनान्ते
क्षीणो मोहस्तृणमिव जगज्जालमालोकयामः ॥"

अत्र तु समारूढयौवनानां परमोत्कृष्टनव्यस्त्रीणामपि कटाक्षादिप्रसारस्य साहस एव नोत्पद्यते, प्रत्युतः शृङ्गार-रसमुत्सृज्य शान्तवैराग्यरसयोः समुद्भवो लक्ष्यते। अने-नास्य महात्मनः अकाण्डशान्तरसमत्त्वं समुद्भाव्यत इति दिक् ॥

भावार्थ—इनके सामने बड़ी-बड़ी जगन्मोहिनी स्त्रियों को भी साहस न होता था कि उन पर अपना कोई स्त्रीचरित्र चला सकें। इस अर्थ को प्रगट करने वाला पद "लोलर्लीलस्वलज्जः है। 'लोला' का अर्थ स्त्री और 'लीला' का अर्थ चरित्र, 'स्व' का अर्थ अपने आप, 'लज्जः' का अर्थ शर्मिन्दा होना, अर्थात् चपल-से-चपल स्त्रियों के चित्त में भी इनके तेज प्रताप के सामने कुदृष्टि करने का साहस ही नहीं होता था, प्रत्युत वह तो आप ही लज्जाभूषण-स्त्रीधर्म की मर्यादा में लज्जा के वश (आधीन) रहकर उनकी शरण में आकर सत्कर्म में प्रवृत्त हो जाती थी। ऐसे सद्भाव वाले तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द विजयी होवें ॥३९॥

भावार्थ—अब इन महात्मा का प्रसिद्ध नाम निकाला जायेगा, जिसको प्रकट करने वाला "केदारौदान्यहारी" पद है। 'क' का अर्थ आत्मा, 'इ' का अर्थ आनन्द, 'द' का अर्थ प्रकाश, अर्थात् आत्मा शब्द में पर आनन्द शब्द जोड़ने से जो शब्द (आत्म-आनंद) बनता है उस आत्मानंद नाम से आप प्रसिद्ध हुए। आनंद का ही अर्थ बताने वाला दूसरा शब्द आराम है, इसको आत्मा के साथ जोड़ने से आत्माराम बन जाता है, इसीलिये इनका नाम आत्माराम भी प्रसिद्ध हुआ। 'औदान्य' का अर्थ उदासी (चिन्ता) 'हारी' का अर्थ नष्ट करने वाला, अर्थात् आत्मानन्द अथवा आत्माराम जी इस नाम से प्रसिद्ध धर्मरत्ना की चिंता को दूर करने वाले उस समय में आये थे जिस समय में जैनधर्म का सूर्य जैनाभासों की कुयुक्तियों के घटाटोपों से आच्छादित हो रहा था, जैनधर्म के महत्व का प्रकाश निस्तेज हुआ जाता था। जैनधर्म की प्राचीनता का प्रवाह बंद हुआ जाता था, जैनधर्म के अनेकान्तवाद का नशा मिटा जाता था और खास कर पंजाब में असली जैनधर्म का मार्गप्रदर्शक कोई न था और मूर्तिपूजा का निषेध खूब जोर से किया जाता था। जैसे गीता में लिखा है कि जब-जब पाप बढ़ता है और धर्म की हानि होती है, तब-तब मैं पापों को मिटाने के लिये और धर्म की रक्षा के लिये और पाप के नाश के लिये किसी उच्चात्मा वाले शरीर की रचना करके भेजता हूँ। ऐसे ही जैनधर्म की प्रभावना के लिये आये हुए अतुलबली श्री विजयानन्द जी विजय को प्राप्त करें। शेष विशेषण पूर्ववत् ॥२८॥

अथैकसप्ततितमोऽर्थः

योगाभोगानुगामी जीयात्—

अत्र यः—अगा—भोगा—नुगा—मी—इति छेदः। यः सर्वत्र पूर्वाऽर्थेषु निर्दिष्टः प्रधानो नायकः 'श्री आत्मानन्दनामकः', अगः पर्वतः, कश्चिद् विशिष्टः पर्वतः, यत्र जैनाः साधवो महात्मानः सन्थाराकरणार्थमन्तसमये व्रजन्ति, तस्यागस्य आभोगः—विस्तरः, उच्चशिखरमितियावत्। तम् अगाभोगम् अनुक्रमेण गच्छन्ति तेऽगाभोगानुगाः, तेषामगाभोगानुगानाम् आ मर्यादायाम्, अन्तसमये इतियावत्, मः—मानम्, (सत्कारः) यस्यास्त्यसावगाभोगानुगामी । तत्र योऽगाभोगानुगामीति योगाभोगानुगामी, सर्वस्मिन्नायुपि धर्मोपदेशप्रचारेण यत्र तत्र धर्मस्थितिस्थापनानन्तरमन्तसमये तस्मिन् पर्वते गत्वा सन्थाराकरणाम् श्रेयस्करं मनुते स्म। अयं महात्मापि तथाभूतः स्वस्य सर्वकर्मसिद्धेरनन्तरञ्जीयात्, तादृशेष्वपि साधुपूज्यस्थानं लभतामिति भावः ॥

भावार्थ—यह महात्मा अन्त समय में किसी खास पर्वत वा तीर्थस्थान पर जहां जैनमतानुयायी महात्मा अन्त समय में सन्थारा करने के लिये जाना अच्छा समझते हैं, वहां पर ही सन्थारा करना चाहते थे, इस अर्थ का दिग्दर्शन "योगाभोगा-

नुगामी" पद सिद्ध करता है. । 'यः' का अर्थ जो, 'अग' का अर्थ पर्वत और 'आभोग' का अर्थ शिखर, 'अनु' का अर्थ पीछे, 'ग' का अर्थ जानेवाले, 'आ' का अर्थ मर्यादा के अन्दर, 'मी' का अर्थ सत्कार करनेवाले, अर्थात् धर्मप्रचार के अनन्तर जो महात्मा किसी पर्वत विशेष के शिखर पर जाने वालों की मर्यादा का सत्कार करने वाले हैं, ऐसे वह श्री विजयानन्द जी तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त विजयी होवें ॥७१॥

अथ द्वासप्ततितमोऽर्थः

योगाभोगानुगामी जीयात्—

योगाः पूर्वोक्तैकसप्ततिस्वर्थेषु निर्दिष्टा अर्थविशेषाः, तेषामाभोगः परिपूर्णत्वम् , तम् अर्थमाकल्येनानुगच्छतीत्येवंशीलो योगाभोगानुगामी । अत्रैकसप्ततिमितेऽर्थसंग्रहे येऽर्था निर्दिष्टा, ते याथातथ्येनानुगगन्ति घटन्ते यस्मिन् महात्मनि सोऽयंमहात्मा अस्मच्चरित्रनायको जीयात् सर्वोत्कृष्टतमो भूयादित्यर्थः, इति शम् ॥

नेत्राङ्कनवचन्द्रेऽब्दे, माघशुक्लाष्टमीतिथौ ।
नीता पूर्तिमियंव्याख्या, वैजनाथेन धीमता ॥

भावार्थ –अब अन्तिम अर्थ भी इसी पद का लिखते हैं. 'योगाः' का अर्थ पूर्वोक्त ७१ अर्थों में वर्णन किये हुये विशेष विशेष